अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 11 कार्तिक-मार्गशीर्ष वि.सं. 2083 नवम्बर, 2026 मूल्य : अठारह रुपये पृष्ठ-28 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x



रमेश थानवी स्मृति व्याख्यान...

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति को साक्षरता की अलख जगाने वाली संस्था के रूप में विकसित करने और देश भर में उसकी अलग पहचान बनाने वाले रमेश थानवी की स्मृति में चार अक्टूबर को हुए व्याख्यान में अनेक सुधि लोग जुटे जिनमें लगभग सभी रमेश जी के प्रिय थे।

स्मृति व्याख्यान साहित्यकार डॉ. आनंद कुमार सिंह ने 'भारतीय परंपरा में शिक्षा बोध' विषय पर दिया। उनका कहना था कि शिक्षा एक सतत प्रक्रिया होती है जिसे भारतीय ज्ञान परंपरा से ही जाना जा सकता है। ज्ञान हमें निर्णायक तौर पर बदलता है। शिक्षक का काम प्रति-चेतना पैदा करना होता है, किंतु वर्तमान में शिक्षा को पूरी तरह रोजगार से जोड़ दिया गया है।

इस अवसर पर विचारक डॉ. महेश चंद्र शर्मा का कहना था कि भारतीय समाज अपने भीतरी विमर्श से ही संचालित होता आया है। उसमें शिक्षा जानकारियों को उंडेलना नहीं होता। भारतीय परंपरा में तो निरक्षर भी शिक्षित होते थे।

व्याख्यान की अध्यक्षता योगी रमण नाथ ने की जिन्होंने रमेश जी के साथ अपने आत्मीय अनुभव साझा किए। जोधपुर के जयनारायण विश्वविद्यालय के सतत शिक्षा विभाग के अध्यक्ष डॉ. ओम प्रकाश टाक ने रमेश जी के निर्मल और सरल व्यक्तित्व के बात करते हुए कहा कि वे पुस्तकों से प्रेम करने वाला समाज बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। उन्होंने सिखाया कि बच्चों की दुनिया कैसी हो तथा लिखने के साथ पढ़ना क्यों जरूरी होता है।

समिति के सचिव हिमांशु व्यास ने अपने धन्यवाद वक्तव्य में रमेश जी को शिद्दत से याद किया।

इस अवसर पर दूरदर्शन पर रमेशजी से हुई लंबी वार्ता में से तीन मिनट की एक क्लिप प्रदर्शित की गई। उनके मिशन ताना-बाना तथा उनकी लिखी पुस्तकों की प्रदर्शनी भी इस अवसर पर समिति प्रांगण में लगाई गई।❑



दिल के अन्दर देहरा, जा देवल में देव
हरदम साखीभूत है, करो तासु की सेव ।

- संत वाणी, गरीबदास

उस देवता का मन्दिर तेरे मन के अन्दर ही है, उसकी तू सेवा कर। हरेक श्वास इसका साक्षी है।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 11 कार्तिक-मार्गशीर्ष वि.सं. 2083 नवम्बर, 2026 मूल्य : अठारह रुपये

क्र म

वाणी

3. संत वाणी - गरीबदास

संपादकीय

5. गांधी की राह अमन की राह

अभिमत

7. प्राचीन भारत में शिक्षा बोध
– डॉ. लता व्यास

11. हर बड़ी खोज जिज्ञासा वाले सवाल पूछने से शुरू होती है !
– प्रो.हिमांशु राय

12. एआई के सिर्फ डरावने नतीजे होंगे यह कहना डर फैलाना है !
– प्रो. बलरामन रविंद्रन

14. नोबेल पुरस्कार - 2026

16. शिक्षण संस्थानों पर भरोसा बहाल करें !
– शैली वालिया

19. उन्नत चिकित्सा असमानता का सबब भी है !
– वेंकी रामकृष्णन

अनुसंधान

21. बुढ़ापे और बीमारियों के देखने की नई निगाह
– रोवन जैकबसन

अभिमत

23. कार के साथ इंसान का रिश्ता !
– सदाशिव श्रोत्रिय

25. युवा ही बेहतर दुनिया बनाएंगे : कुमार प्रशांत
– डॉ. निधि परिहार

26. **समाचार**



दीपावली की हार्दिक शुभकामनाएं

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,
जयपुर-302004
फोन : 2700559, 2706709, 2707677
ई-मेल : raeajaipur@gmail.com
www.raea.in

संपादक :
राजेन्द्र बोड़ा
प्रबंध संपादक :
दिलीप शर्मा

गांधी की राह अमन की राह

इन दिनों अमन की कोई बात नहीं करता। दुनिया में हर तरफ संघर्ष और युद्ध चल रहे हैं। यह सभी जानते हैं कि युद्ध से शांति स्थापित नहीं होती, फिर भी सभी शांति स्थापित करने के लिये युद्धरत रहते हैं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद दुनिया में अमन बनाए रखने के लिये संयुक्तराष्ट्र संघ ने तो शांति रक्षक सेनाएं ही बना दी। किसी ने यह नहीं पूछा कि शांति में सेना का क्या काम? सेना के हथियारों के बल पर बनी शांति कितनी कायम रह सकती है? हमने देखा कि शांति रक्षक सेनाओं के साथ ही युद्ध होने लगे। महात्मा गांधी ने शांति शब्द का कभी उपयोग नहीं किया। उन्होंने हमेशा 'अहिंसा' की बात की। लेकिन बापू के जीवन काल में तथा बाद में सभी ने 'अहिंसा' पर 'शांति' को तरजीह दी। कांग्रेस ने भी अपने प्रस्तावों में हमेशा शांति का ही प्रयोग किया। अब तो हम पाते हैं कि एक तबका है जो 24 घंटे सिवाय उन्माद, नफरत और संघर्ष के अलावा और कुछ बात ही नहीं करता। लगता है चैन से रहना किसी को गवारा नहीं है। सेना से अवकाशप्राप्त अधिकारी उन्माद बढ़ाने में सबसे वाचाल नज़र आते हैं। अपनी टीआरपी बढ़ाने के लिये टीवी चैनल उन्हें विशेषज्ञ बना कर कैमरे के सामने बिठाये रखते हैं। ऐसे उन्मादी माहौल में अमन की बात करने वाले लोग सबसे पहले निशाना बनते हैं। उन पर आरोप लगाया जाता है कि उनकी वजह से ही यह सारी समस्याएं बनी हुई हैं। अशान्ति, संघर्ष और आतंकवाद के लिये अमन की बात करने वालों को जिम्मेवार ठहराया जाता है। बल प्रयोग से सब-कुछ ठीक कर देने वाले वाचालों की सुनी जाती है और अमन और भाईचारे की बात करने वाला सबसे पहले मारा जाता है। जैसा गांधी के साथ हुआ।

आज की आधुनिक और तकनीकी रूप से उन्नत दुनिया में हर देश युद्ध की तैयारी करते हुए अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने में लगा रहता है। इससे दुनिया के सबसे बड़े उद्योग – शस्त्र उद्योग – का कारोबार खूब फलता-फूलता है। किन्तु इतिहास और वर्तमान परिस्थितियों ने बार-बार यह साबित किया है कि युद्ध कभी शांति का समाधान नहीं हो सकते। युद्ध केवल विनाश, नफरत और अनगिनत इंसानों की मौत लाते हैं। प्रत्येक युद्ध अक्सर दूसरे नये युद्ध की ज़मीन तैयार करता है। महात्मा गांधी ने इसी सत्य को पहचाना और अहिंसा को एक हथियार और जीवन पद्धति के रूप में अपनाया। गांधी का मानना था कि शांति केवल दो देशों के बीच युद्ध और दो समुदायों के बीच संघर्ष का न होना ही नहीं है, बल्कि यह मानव जीवन और समाज के भीतर की एक गहरी मानसिक अवस्था है। जब तक मनुष्य के विचारों में अहिंसा नहीं होगी, तब तक बाहरी दुनिया में शांति स्थापित करना असंभव है। उससे मन की कड़वाहट को खत्म किये बिना संघर्षों का चिरस्थाई समाधान नहीं पाया जा सकता है। गांधी की अहिंसा वास्तव में विरोधी का हृदय परिवर्तन करती है, जिससे आपसी मतभेद हमेशा के लिए समाप्त हो जाते हैं।

वह संवाद की शक्ति बनती है। गांधी के विचार सिखाते हैं कि बातचीत और समझदारी से विवादों को सुलझाया जा सकता है।

गांधी की अहिंसा की सीख की प्रासंगिकता इक्कीसवीं सदी की आज की दुनिया में और भी बढ़ गई है। दुनिया ने तकनीकी रूप से जितनी उन्नत की है वह उतनी ही अशांत भी हुई है। युद्ध, परमाणु हथियारों की होड़, आंतरिक संघर्ष, नस्लीय भेदभाव और वैचारिक कट्टरता हर कहीं चरम पर हैं। ऐसे अशांत और हिंसक समय में महात्मा गांधी का 'अहिंसा' का दर्शन न केवल प्रासंगिक बना हुआ है, बल्कि इसकी आवश्यकता आज पहले से कहीं अधिक है।

गांधीजी की अहिंसा केवल शारीरिक हिंसा न करना भर नहीं है, बल्कि यह मन, वचन और कर्म से किसी को ठेस न पहुंचाने की एक सक्रिय और शक्तिशाली जीवन-पद्धति है। आधुनिक हथियारों और परमाणु बमों के दौर में हिंसा का परिणाम केवल सामूहिक विनाश ही हो सकता है। गांधी का मानना था कि आंख के बदले आंख पूरी दुनिया को अंधा बना देगी। आज के संदर्भ गांधी की यह टिप्पणी पूरी तरह सटीक बैठती है।

क्योंकि युद्ध कभी भी स्थायी शांति नहीं ला सकते, इसलिए विवादों को सुलझाने के लिए आज दुनिया के पास गांधी के सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए 'संवाद' और 'राजनयिक कूटनीति' अपनाने के अलावा और कोई चारा नहीं है। केवल अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, बल्कि विभिन्न देशों के भीतर भी बढ़ती असहिष्णुता, धार्मिक कट्टरता और ध्रुवीकरण की वजह से समाज टूट रहे हैं। सोशल मीडिया के इस दौर में वैचारिक मतभेदों का नफरत और 'हेट स्पीच' में तेजी से बदल जाना बहुत आसान हो गया है। गांधीजी की अहिंसा हमें सहिष्णुता, करुणा और दूसरों के विचारों का सम्मान करना सिखाती है। उनका 'सत्याग्रह' का सिद्धांत सिखाता है कि हम बिना नफरत फैलाए भी अन्याय और गलत नीतियों का शांतिपूर्ण विरोध कर सकते हैं। आज के समाज को टूटने से बचाने के लिए गांधीवादी मूल्यों को शिक्षा और व्यावहारिक जीवन में शामिल करना अत्यंत आवश्यक है। पर्यावरणीय अहिंसा और सतत विकास की बात करें तो वहां भी गांधी के विचार प्रासंगिक नजर आते हैं। गांधी केवल इंसानों तक सीमित नहीं थे, बल्कि वे प्रकृति के प्रति भी अहिंसक थे। उन्होंने दशकों पहले चेतावनी दी थी कि धरती के पास हर इंसान की जरूरत को पूरा करने के लिए पर्याप्त संसाधन हैं, लेकिन किसी एक के लालच के लिए नहीं। आज दुनिया ग्लोबल वार्मिंग, जलवायु परिवर्तन और प्राकृतिक आपदाओं से जूझ रही है। यह प्रकृति के प्रति मानव की 'हिंसा' का ही परिणाम है। यदि हम गांधीजी के 'अपरिग्रह' (कम से कम उपभोग) और प्रकृति के प्रति अहिंसक दृष्टिकोण को अपनाएं, तो हम सतत विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

महात्मा गांधी की अहिंसा कोई कमजोरी या मजबूरी नहीं है, बल्कि दुनिया की सबसे बड़ी ताकत है, जो बड़े से बड़े साम्राज्य को झुकाने की क्षमता रखती है। नेल्सन मंडेला और मार्टिन लूथर किंग जूनियर जैसे वैश्विक नेताओं ने इसी अहिंसा के बल पर इतिहास बदला था। आज की आधुनिक, जटिल और परमाणु हथियारों से सम्पन्न दुनिया में यदि मानव जाति को अपना अस्तित्व बचाए रखना है, तो उसे नफरत का रास्ता छोड़कर अहिंसा, प्रेम और करुणा के मार्ग को अपनाना ही होगा। गांधी के विचार कल भी सत्य थे, आज भी प्रासंगिक हैं और आने वाले भविष्य के लिए एकमात्र मार्गदर्शक हैं।❑



❑
डॉ. लता व्यास

इतिहास की आचार्य रही लेखिका कह रही है कि भारतीय शिक्षा का इतिहास केवल अतीत की कहानी नहीं है; यह इस बात की कहानी भी है कि किसी सभ्यता के ज्ञान और शिक्षा को देखने वाली दृष्टि समय के साथ कैसे बदलती है। सं.

प्राचीन भारत में शिक्षा बोध

❑

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति की बात आते ही एक शब्द सामने आता है – गुरुकुल, और एक चित्र उभरता है एक धवल दाढ़ी वाले गुरुजी का, स्वच्छ आश्रम का, पानी भर लाती गुरुपत्नी का, और बटुक वेषधारी छात्रों का। लेकिन यह सही नहीं है।

स्वदेशी परंपरा को समझने के लिये एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भारत में आधुनिक औपनिवेशिक शिक्षा-व्यवस्था के स्थापित होने से पहले शिक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या था? इस प्रश्न का उत्तर केवल आज प्रचलित गुरुकुल की छवि के आधार पर नहीं दिया जा सकता। इसके लिये भारतीय और औपनिवेशिक काल के दस्तावेजों, ऐतिहासिक अध्ययनों तथा विभिनं शिक्षा-परंपराओं को साथ रख कर देखना आवश्यक है।

इस संदर्भ में धर्मपाल की प्रसिद्ध पुस्तक 'द ब्यूटीफुल ट्री: इंडिजनस इंडियन एज्युकेशन इन द एटिन्थ सेंचुरी' एक महत्वपूर्ण प्रवेश-बिन्दु प्रदान करती है। धर्मपाल ने मुख्यतः अठारहवीं शताब्दी तथा आरंभिक ब्रिटिश काल से संबंधित उपलब्ध दस्तावेजों और सर्वेक्षणों को सामने रखा है। पुस्तक में मद्रास प्रेसिडेंसी के शिक्षा सर्वेक्षण विलियम एडम की बंगाल संबंधी रिपोर्टों, जी. डब्ल्यू. लेटनर की पंजाब संबंधी सामग्री तथा अन्य दस्तावेजों को भी शामिल किया गया है।

यहां एक महत्वपूर्ण सावधानी आवश्यक है। धर्मपाल की पुस्तक को प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था का प्रत्यक्ष विवरण नहीं माना जाना चाहिए। इसका महत्व इस बात में है कि हमें औपनिवेशिक शासन के आरंभिक चरण के निकट उपलब्ध स्वदेशी शिक्षा की वास्तविक संस्थाओं और उनके स्वरूप से संबंधित दस्तावेजी सामग्री तक पहुंचाती है। इस प्रकार यह प्रश्न उठाती है कि भारत की शिक्षा-परंपरा को औपनिवेशिक काल से पहले और उसके दौरान किस रूप में देखा जा सकता है।

विलियम एडम की 1835-38 की रिपोर्टें इस संदर्भ में विशेष महत्व रखती हैं। एडम को बंगाल और बिहार में स्थानीय शिक्षा की स्थिति की जांच के लिये नियुक्त किया गया था। उनकी रिपोर्ट का उद्देश्य ही विभिनं प्रकार के स्थानीय विद्यालयों और संस्थाओं की संख्या, स्थिति और कार्यप्रणाली की जानकारी प्राप्त करना था। रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से यह कहा गया था कि सरकार को यह जानना आवश्यक है कि देश के लिये क्या किया जाना चाहिए, और इसके लिये पहले यह जानना होगा कि देश स्वयं क्या कर रहा है।

इन रिपोर्टों में प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ संस्कृत शिक्षा के संस्थानों का भी विवरण मिलता है। विभिनं स्थानों पर व्याकरण, तर्क, विधि, साहित्य, ज्योतिष, चिकित्सा, वेदान्त आदि विषयों के अध्ययन का उल्लेख मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि स्थानीय शिक्षा-संस्थाएं केवल धार्मिक पाठ तक सीमित नहीं थीं, बल्कि विभिनं ज्ञान विषयों का अध्ययन भी कराया जाता था।

यहीं से प्राचीन भारतीय शिक्षा को समझने का प्रश्न अधिक व्यापक हो जाता है। यदि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में विभिनं प्रकार की शिक्षा-संस्थाएं विद्यमान थी, तो उनकी ऐतिहासिक जड़ों को समझने के लिये हमें भारतीय शिक्षा की उससे कहीं पुरानी परंपराओं की ओर देखना होगा। प्राचीन भारत में शिक्षा की बात आते ही एक परिचित चित्र उभरता है – एक गुरु, आश्रम, बटुक-वेषधारी विद्यार्थी और गुरु के निकट रह कर अध्ययन। यह चित्र भारतीय शिक्षा-परंपरा के एक महत्वपूर्ण पक्ष को अवश्य दर्शाता है, लेकिन पूरी परंपरा को नहीं।

प्राचीन भारत में शिक्षा परिवार, गुरु-आश्रम, गुरुकुल, पाठशाला, मठ और विहार जैसे अनेक माध्यमों से दी जाती थी। विभिनं कालों और क्षेत्रों में इनके स्वरूप अलग-अलग रहे। समय के साथ उच्च शिक्षा के बड़े केंद्र भी विकसित हुए, जिनमें तक्षशिला, नालंदा, वल्लभी, और विक्रमशिला का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है। इसलिए प्राचीन भारतीय शिक्षा = गुरुकुल का समीकरण ऐतिहासिक वास्तविकता को अत्यधिक सरल बना देता है।

ए. एस. अल्तेकर की 'एज्युकेशन इन एनशिएन्ट इंडिया' प्राचीन भारतीय शिक्षा को उसके उद्देश्यों, संस्थाओं, पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियों के संदर्भ में व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करती है। पुस्तक में विद्यार्थी जीवन, शिक्षत-विद्यार्थी संबंध, प्राथमिक शिक्षा, महिला शिक्षा, शिक्षा-संस्थाएं, पाठ्यक्रम, शिक्षण-पद्धति और परीक्षा आदि अनेक पक्षों पर चर्चा की गई है। आधुनिक संस्करण भी इस अध्ययन को लगभग 1200 ई. तक के संदर्भ में विभिनं साहित्यिक, पुरातात्विक, और विदेशी यात्रियों से स्रोतों से जोड़ता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में ज्ञानार्जन के साथ चरित्र निर्माण, धार्मिक एवं नैतिक चेतना, अनुशासन, सामाजिक कर्तव्य और सांस्कृतिक परंपरा का संरक्षण शामिल था। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उसके सामाजिक और जीवनगत दायित्वों के लिये तैयार करना भी था।

इस दृष्टि से शिक्षा केवल किसी परीक्षा में सफलता या किसी नौकरी के लिये प्रशिक्षण नहीं थी। व्यक्ति और समाज दोनों के निर्माण को शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना जाता था।

गुरु शिष्य संबंध इस व्यवस्था की आधारभूत विशेषताओं में था। विद्यार्थी गुरु के निकट रह कर शिक्षा प्राप्त करता था। इससे शिक्षक और विद्यार्थी के बीच केवल विषयगत नहीं, बल्कि व्यक्तिगत और अनुशासनात्मक संबंध भी विकसित होता था। गुरुकुल व्यवस्था में विद्यार्थी आश्रम के दैनिक जीवन में भी भाग लेता था। इससे आत्मनिर्भरता, श्रम, अनुशासन और सामाजिक व्यवहार सीखने के अवसर मिलते थे। इस व्यवस्था को आधुनिक विद्यालय के केवल कक्षा-कक्ष मॉडल से तुलना करके समझना पर्याप्त नहीं। शिक्षा का एक बड़ा भाग जीवन-पद्धति के माध्यम से भी दिया जाता था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा में मौखिक परंपरा का विशेष महत्व था। श्रवण, स्मरण, पुनरावृत्ति, प्रश्नोत्तर, संवाद, तर्क और शास्त्रार्थ जैसी विधियों का प्रयोग होता था। विशेष रूप से वैदिक साहित्य की मौखिक परंपरा में उच्चारण और पाठ की शुद्धता महत्वपूर्ण थी। दूसरी ओर दार्शनिक एवं शास्त्रीय अध्ययन में प्रश्न, तर्क और वाद-विवाद का विशेष महत्व विकसित हुआ।

इस प्रकार शिक्षण केवल शिक्षक द्वारा ज्ञान सुनाने की प्रक्रिया नहीं था। सुनना, स्मरण करना, प्रश्न करना, विचार करना और तर्क के माध्यम से किसी मत का परीक्षण करना भी शिक्षा का हिस्सा था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के पाठ्यक्रम को केवल धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन तक सीमित करना उचित नहीं होगा। वेद और वेदांगों के साथ

व्याकरण, दर्शन, तर्क, साहित्य, राजनीति, अर्थशास्त्र चिकित्सा, गणित और खगोल जैसे विषयों का अध्ययन विभिनं परंपराओं में मिलता है। इसके अतिरिक्त कृषि, पशुपालन, शिल्प, व्यापार, चिकित्सा, निर्माण, युद्धकला और अन्य जीवनोपयोगी क्षेत्रों से संबंधित ज्ञान एवं कौशल भी सामाजिक जीवन का हिस्सा थे।

यही कारण है कि राधाकुमुद मुखर्जी की 'एनशिएंट इंडियन एज्युकेशन: ब्राह्मिनीकल एंड बुद्धिस्ट विशेष महत्व रखती है। यह पुस्तक ब्राह्मणीय और बौद्ध शिक्षा-परंपराओं को साथ रखती है तथा वैदिक शिक्षा, महाकाव्य परंपरा, औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा, तक्षशिला और बौद्ध शिक्षा-केंद्रों पर चर्चा करती है।

प्राचीन भारतीय समाज को केवल दार्शनिकों और शास्त्रज्ञों की आवश्यकता नहीं थी। कृषि, शिल्प, व्यापार, चिकित्सा, निर्माण, प्रशासन और सैन्य क्षेत्र के लिये विभिन्न प्रकार के कौशल आवश्यक थे। इसलिए शिक्षा का व्यावहारिक पक्ष भी महत्वपूर्ण था। अल्तेकर के अध्ययन में व्यावसायिक और उपयोगी शिक्षा को स्वतंत्र स्थान दिया गया है। इससे यह समझने में सहायता मिलती है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा को केवल आध्यात्मिक या धार्मिक शिक्षा के रूप में देखना अधूरा दृष्टिकोण है।

समय के साथ भारतीय शिक्षा-संस्थाओं का स्वरूप भी विकसित हुआ। तक्षशिला जैसे केंद्रों में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ आचार्यों से अध्ययन की परंपरा थी। आगे चलकर बौद्ध विहार और महाविहार उच्च शिक्षा के महत्वपूर्ण केंद्र बने। नालंदा इसका प्रमुख उदाहरण है। यहां बौद्ध दर्शन के साथ व्याकरण, तर्क और अन्य विषयों का अध्ययन होता था। विभिनं क्षेत्रों से विद्यार्थी यहां आते थे। वल्लभी और विक्रमशिला जैसे केंद्र भी इस व्यापक शिक्षा-परंपरा का हिस्सा थे। इस प्रकार भारतीय शिक्षा-इतिहास को केवल आश्रम या छोटे गुरुकुल तक सीमित करके देखना उसके संस्थागत विकास को नजरंदाज करना होगा।

प्राचीन भारत में शिक्षा की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि शिक्षा और जीवन के बीच के दूरी अपेक्षाकृत कम थी। विद्यार्थी केवल पुस्तकीय ज्ञान अर्जित नहीं करता था, बल्कि अनुशासन, व्यवहार, सामाजिक दायित्व और जीवनोपयोगी कौशल भी सीखता था। यही कारण है कि प्राचीन शिक्षा को समझते समय ज्ञान और जीवन को अलग-अलग करके देखना कठिन है। शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को केवल ज्ञानी बनाना नहीं, बल्कि उसे जीवन के लिये तैयार करना होता था।

लेकिन क्या यह व्यवस्था पूर्णतः समतामूलक थी? यहीं इतिहास के अध्ययन में सावधानी आवश्यक हो जाती है। प्राचीन भारतीय शिक्षा को पूरी तरह आदर्श और सार्वभौमिक व्यवस्था मानना भी उचित नहीं होगा। विभिन्न कालों और क्षेत्रों में शिक्षा की उपलब्धता सामाजिक स्थिति, लिंग, परंपरा और अन्य परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही। महिला शिक्षा की स्थिति भी सभी कालों में एक जैसी नहीं थी। विभिन्न सामाजिक समूहों की शिक्षा तक पहुंच के संबंध में भी ऐतिहासिक परिस्थितियां भिन्न थीं। इसलिए प्राचीन भारतीय शिक्षा का अध्ययन दो अतियों से बच कर करना चाहिए- एक ओर उसे पूरी तरह पिछड़ी या केवल धार्मिक व्यवस्था मानना और दूसरी ओर उसे पूर्णतः समतामूलक एवं आदर्श व्यवस्था मान लेना।

अब प्रश्न उठता है कि यदि भारत में शिक्षा की इतनी विविध परम्पराएं थीं, तो आधुनिक भारत में प्राचीन भारतीय शिक्षा की छवि इतनी सीमित क्यों दिखाई देती है? इस प्रश्न का एक महत्वपूर्ण भाग औपनिवेशिक शिक्षा-नीति से संबंधित है। थॉमस बैबिंगटन मैकॉले का 1835 का मिनट्स ऑन इंडियन एजुकेशन इस संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण दस्तावेज है। मैकॉले ने ब्रिटिश भारत की शिक्षा-नीति में अंग्रेजी माध्यम तथा यूरोपीय साहित्य और ज्ञान को प्राथमिकता देने की वकालत की। लेकिन यह स्पष्ट रखना आवश्यक है कि मैकॉले का मिनट प्राचीन भारतीय शिक्षा का इतिहास नहीं था। वह औपनिवेशिक शासन की शिक्षा-नीति से संबंधित दस्तावेज था। इसलिए उसे प्राचीन शिक्षा के प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह नहीं, बल्कि औपनिवेशिक शिक्षा-दृष्टि के प्राथमिक स्रोत के रूप में पढ़ना चाहिए।

औपनिवेशिक काल के दस्तावेजों में केवल नीति निर्माताओं के विचार ही नहीं, बल्कि भारत की स्थानीय शिक्षा-संस्थाओं के सर्वेक्षण भी मिलते हैं। विलियम एडम की रिपोर्टें इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। उनके सर्वेक्षण का उद्देश्य स्थानीय शिक्षा की वास्तविक स्थिति का पता लगाना था। इसी प्रकार जी. डब्ल्यू. लेटनर ने पंजाब की स्वदेशी शिक्षा-व्यवस्था से संबंधित सामग्री प्रस्तुत की।

धर्मपाल की पुस्तक का महत्व यहीं विशेष रूप से सामने आता है।

उन्होंने ऐसे अनेक दस्तावेजों को एक साथ रख कर स्वदेशी शिक्षा की तस्वीर को पुनः सामने लाने का प्रयास किया। पुस्तक की सामग्री में मद्रास, पंजाब और बंगाल से संबंधित सर्वेक्षणों तथा एडम और लेटनर की रिपोर्टों के अंश शामिल हैं। इसलिए धर्मपाल को केवल एक निष्कर्ष देने वाले लेखक के रूप में पढ़ने के बजाय औपनिवेशिक अभिलेखों और सर्वेक्षणों को सामने लाने वाले पुनर्पाठ के रूप में देखना अधिक उपयोगी है।

औपनिवेशिक शिक्षा-दृष्टि की आलोचना आवश्यक हो सकती है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि औपनिवेशिक काल के प्रत्येक दस्तावेज को अस्वीकार कर दिया जाए। वास्तव में एडम की रिपोर्ट जैसे दस्तावेज आज भारतीय शिक्षा के इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। वे उस समय मौजूद स्थानीय संस्थाओं, विद्यार्थियों, शिक्षकों और पाठ्यक्रमों के बारे में सामग्री उपलब्ध कराते हैं। दूसरी ओर, इस दस्तावेजों को भी उनके उद्देश्य, प्रशासनिक संदर्भ और लेखक की दृष्टि के साथ पढ़ना आवश्यक है। इसी प्रकार धर्मपाल के पुनर्पाठ को भी अन्य ऐतिहासिक अध्ययनों और स्रोतों के साथ रख कर देखना चाहिए।

अर्थात इतिहास की बेहतर पद्धति यह होगी कि स्रोत को न तो केवल इसलिए स्वीकार किया जाए कि वह औपनिवेशिक है, और न केवल इसलिए अस्वीकार किया जाए कि वह औपनिवेशिक है। उसके कथं, संदर्भ और प्रमाण का परीक्षण किया जाना चाहिए।

वास्तविक प्रश्न यह है कि भारत की अपनी ऐतिहासिक शिक्षा-परंपराओं में कौन से संस्थागत, शैक्षणिक, सामाजिक और ज्ञान संबंधी तत्व थे, वे समय के साथ कैसे बदले; औपनिवेशिक शासन ने उन्हें किस प्रकार देखा और बदला; और आज उनका अध्ययन किस आलोचनात्मक पद्धति से किया जाना चाहिए। अधिक उपयुक्त मार्ग स्रोत-आधारित तुलनात्मक और आलोचनात्मक पुनर्पाठ का है। ऐसा पुनर्पाठ न केवल यह समझने में सहायता करेगा कि भारत में शिक्षा वास्तव में कैसी थी, बल्कि यह भी स्पष्ट करेगा कि भारत की शिक्षा परंपरा को बाद के इतिहास लेखन में किस प्रकार देखा, समझा और पुनर्परिभाषित किया गया। और सारे विमर्श का यही महत्वपूर्ण प्रश्न है – भारतीय शिक्षा का इतिहास केवल अतीत की कहानी नहीं है; यह इस बात की कहानी भी है कि किसी सभ्यता के ज्ञान और शिक्षा को देखने वाली दृष्टि समय के साथ कैसे बदलती है।❑

अन्नपूर्णा शुक्ला की किताबों पर चर्चा

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में पिछले दिनों चित्रकला तथा कविता का अद्भुत संगम ही नहीं हुआ बल्कि विद्वानों ने ने उस पर सार्थक चर्चा करते हुए भारतीय कलाओं की गहरादियों को समझने की दृष्टि दी।

मौका था चित्रकला के साथ लेखन में अपना अलग स्थान बनाने वाली शिक्षिका डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला की दो पुस्तकों – 'भारतीय चित्रकला एक विहंगम दृष्टि' तथा मौन की आकृतियां' – का लोकार्पण, जिसमें जाने माने कला मर्मज्ञ भवानी शंकर शर्मा, पुरातत्ववेत्ता डॉ. नीरज त्रिपाठी, साहित्यकार एवं प्रशासनिक अधिकारी डॉ. सूरज नेगी मौजूद थे। भारतीय चित्रकला पुस्तक पर डॉ. त्रिपाठी का कहना था कि वह प्रामाणिक है। डॉ. भवानी शंकर ने भी पुस्तक को चित्रकला के इतिहास के प्राथमिक ज्ञान के लिए उपयोगी बताये हुए भारतीय कला को समझने की दृष्टि पर अनमोल बातें की। डॉ. नेगी ने अन्नपूर्णा जी को संवेदनशील चित्रकार एवं लेखक बताते हुए कहा कि उनकी पुस्तक विद्यार्थियों के लिए भी अत्यंत उपयोगी है।

लेखिका उमा शर्मा ने डॉ. शुक्ला की कविताओं तथा चित्रों की जुगलबंदी करती पुस्तक 'मौन की आकृतियां' के बारे में कहा कि उनमें आवेग, लय तथा भावों का उद्वेग है।

समिति के सचिव हिमांशु व्यास ने अन्नपूर्णा जी का चित्रकला से बाहर जाकर शब्दों की विधा में प्रवेश करने को रेखांकित किया।❑



हर बड़ी खोज जिज्ञासा वाले सवाल पूछने से शुरू होती है!

❑



❑
प्रो. हिमांशु राय

इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ मैनेजमेंट, इंदौर के निदेशक कहते हैं कि सभ्यताएं ऐसे लोगों से आगे बढ़ती हैं जो बेहतर सवाल पूछते हैं। सं.

जब युवा नचिकेता मृत्यु के देवता यमराज के सामने खड़े हुए, तो उन्होंने कुछ अनोखा किया। उन्हें धन, शक्ति, लंबी आयु और दुनियावी सुख-सुविधाएं देने की पेशकश की गई, लेकिन उन्होंने अपने उस सवाल से ध्यान हटाने से मना कर दिया जो उनके लिए सच में मायने रखता था। उन्होंने वह सवाल पूछना जारी रखा जिसके बारे में सोचने में भी दूसरे लोग हिचकिचाते थे। कठोपनिषद् ने उन्हें इसलिए अमर नहीं बनाया क्योंकि उनके पास असाधारण ज्ञान था, बल्कि इसलिए कि उनमें असाधारण जिज्ञासा थी।

सभ्यताएं सिर्फ़ इसलिए आगे नहीं बढ़तीं क्योंकि वे जवाब देती हैं। बल्कि इसलिए आगे बढ़ती हैं, क्योंकि वे ऐसे लोग पैदा करती हैं जो बेहतर सवाल पूछते हैं।

जैसे-जैसे भारत खुद को दुनिया की प्रमुख नॉलेज अर्थव्यवस्थाओं में से एक बनाना चाहता है, हम अक्सर इन्वेस्टमेंट, रिसर्च फंडिंग, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, स्टार्ट अप, पेटेंट और टेक्नोलॉजिकल कैपेबिलिटी के मामले में नवोन्मेष की बात करते हैं। ये सभी ज़रूरी हैं। फिर भी ये नवोन्मेष की शुरुआत नहीं हैं। ये उसका नतीजा हैं। नवोन्मेष बहुत पहले शुरू होता है। यह एक सवाल से शुरू होता है।

हर वैज्ञानिक पहल, हर तकनीकी क्रांति, हर संस्थानिक सुधार, और हर सामाजिक परिवर्तन किसी के यह पूछने से शुरू हुआ है कि दुनिया को ठीक वैसे ही क्यों काम करना चाहिए जैसे वह हमेशा से करती आई है। पहिया, प्रिंटिंग प्रेस, एंटीबायोटिक्स, इंटरनेट, रियूज़ेबल रॉकेट, डिजिटल पेमेंट, और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, ये सब इसलिए आए क्योंकि लोग उन सोच को चुनौती देने को तैयार थे जिन्हें दूसरे बिना जांचे मान लेते थे। इसलिए जिज्ञासा सिर्फ़ एक शैक्षणिक गुण नहीं है। यह एक रणनीतिक राष्ट्रीय संसाधन है।

बदकिस्मती से, सवाल पूछने वाले को अक्सर गलत समझा जाता है। कई संगठन सवालों को विरोध समझते हैं। कई क्लासरूम अनजाने में ओरिजिनल सवालों के बजाय सही जवाबों को ज़्यादा जोश से पुरस्कृत करते हैं। कई संस्थान पहले से बने हुए

तरीकों के इतने आदी हो जाते हैं कि जिज्ञासा धीरे-धीरे पलायन करने लगती है। हालांकि स्थायित्व के स्पष्ट फ़ायदे हैं, लेकिन जब यह दिमागी सख्ती बन जाता है, तो तरक्की धीरे-धीरे थमने लगती है और आखिर में पूरी तरह रुक जाती है।

सबसे मज़बूत संस्थाएं अलग तरह से काम करती हैं। वे ऐसा माहौल बनाती हैं जिसमें सवाल करना विध्वंसकारी होने के बजाय अनुशासित होता है, सिनिकल होने के बजाय सख़्त होता है, और विनाशकारी होने के बजाय रचनात्मक होता है। वे समझते हैं कि विनम्र असहमति फैसलों को मज़बूत बनाती है, क्योंकि जब अंदाज़ों को दोहराने भर के बजाय उनकी जांच की जाती है तो वे बेहतर बनते हैं।

चाणक्य इस सिद्धांत को अच्छी तरह समझते थे। हालांकि उन्हें ज़्यादातर राज्य के एक रणनीतिकार के तौर पर याद किया जाता है,, लेकिन वे शासकों को हमेशा सलाह देते थे कि नतीजे पर पहुंचने से पहले जानकारी के कई स्रोत ढूंढ लें। उनका मानना था कि बिना सत्यापन के कोई पक्का निर्णय लेना अक्सर रणनीतिक असफलता की शुरुआत होती है। सिर्फ़ सहमति से घिरा लीडर धीरे-धीरे कॉन्फिडेंस और लापरवाही में फर्क करने की काबिलियत खो देता है।

यही सिद्धांत वैज्ञानिक खोजों पर भी लागू होता है। अनुसंधानकर्ता शायद ही कभी खुद को सही साबित करके शुरुआत करते हैं। वे खुद को गलत साबित करने की कोशिश करके शुरुआत करते हैं।

हर अवधारणा (हाइपोथिसिस) सिर्फ़ इसलिए बची क्योंकि वह पहले गंभीर सवालों से बची थी। इसलिए, दिमागी ईमानदारी, अपने विचारों का बचाव करने पर कम और सबूत मिलने पर उन्हें बदलने के लिए तैयार रहने पर ज़्यादा निर्भर करती है। यह सीख प्रयोगशाला से कहीं आगे तक जाती है।

जो व्यवसाय अपनी सोच पर सवाल नहीं उठाते, वे उन बाजारों को खो देते हैं जिन पर कभी उनका दबदबा था। जो सरकारें बदलती असलियत को नज़रअंदाज़ करती हैं, वे आखिरकार नई चुनौतियों से निपटने में मुश्किल महसूस करती हैं। जो विश्वविद्यालय जिज्ञासा को कम करते हैं, वे धीरे-धीरे ज्ञान बनाने के बजाय जानकारी का भंडार बन जाते हैं। यहां तक कि लोग भी तब आगे बढ़ना बंद कर देते हैं जब वे समझ बढ़ाने के बजाय अपनी सोच को बचाने में ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगते हैं।

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस इस चर्चा में एक और पहलू जोड़ता है। मशीनें अब लगभग तुरंत जानकारी निकाल सकती हैं और बहुत मुश्किल सवालों के सही जवाब दे सकती हैं। यह अनोखी क्षमता इंसानी सवाल पूछने को और भी कीमती बनाती है। अगर जवाब ज़्यादा मिलने लगते हैं, तो प्रतिस्पर्धी तुला बेहतर सवाल बनाने की तरफ़ शिफ्ट हो जाती है। टेक्नोलॉजी हल खोजने की रफ़्तार बढ़ा सकती है, किन्तु सिर्फ़ इंसानी जिज्ञासा ही तय करती है कि सबसे पहले किस समस्या को हल करने की ज़रूरत है।

भारत के पास एक शानदार सभ्यतागत विरासत है। उपनिषदों को निर्देशों के बजाय बातचीत के तौर पर बनाया गया है। उनका ज्ञान पूछताछ से आता है। छात्र शिक्षकों को चुनौती देते हैं। शिक्षक गहरे सवालों से जवाब देते हैं। हठधर्मिता की बजाय बातचीत से समझ आती है। यह बौद्धिक परंपरा हमें याद दिलाती है कि आत्मविश्वास और जिज्ञासा एक-दूसरे के उलट नहीं हैं। असल में, आत्मविश्वासी सभ्यताएं खुद से सवाल करने के लिए तैयार रहती हैं, क्योंकि उन्हें सीखने की अपनी क्षमता पर भरोसा होता है।

साइंस, टेक्नोलॉजी, एजुकेशन और इनोवेशन में भारत ग्लोबल लीडर बनना चाहता है, इसलिए हमें इस जांच-पड़ताल की संस्कृति को सायास बढ़ाना होगा। हमारी कक्षाओं में सोच-समझकर पूछे गए सवालों को भी उतने ही जोश से मानना चाहिए जितना सही जवाबों को। हमारे संगठनों को चुपचाप एक जैसा मानने के बजाय रचनात्मक चुनौती को पुरस्कृत करना चाहिए। हालात उन्हें मजबूर कर दे उससे पहले ही हमारे नेताओं को अपनी सोच पर दोबारा सोचने के लिए प्रेरित होना चाहिए।

भविष्य सिर्फ़ उनका नहीं होगा जिनके पास सबसे तेज़ कंप्यूटर, सबसे बड़ी प्रयोगशाला या सबसे ज़्यादा वित्तीय संसाधन होंगे। वह उनका होगा जो ऐसे सवाल पूछते रहेंगे जिनके बारे में किसी और ने अभी तक सोचा भी नहीं होगा।

इसलिए हमारे समय का सूत्र यह है कि, पक्का होने से पहले जिज्ञासा को बचाएं, एक जैसा होने से पहले पूछताछ को बढ़ावा दें, और याद रखें कि हर बड़ी खोज किसी जवाब से नहीं, बल्कि एक अलग सवाल पूछने की हिम्मत से शुरू होती है।❑

एआई के सिर्फ़ डरावने नतीजे होंगे यह कहना डर फैलाना है!



❑
प्रो. बलरामन रविंद्रन

आईआईटी मद्रास में डेटा साइंस और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस विषयों के प्रमुख एआई से बहुत ज्यादा चिंतित नहीं है। सं.

लोग ठीक कहते हैं कि एआई ग्लोबल इकॉनमी में बहुत बड़ा बदलाव ला सकता है। इसका आर्थिक असर पड़ता सकता है। बहुत से लोग शायद अपनी रोजी-रोटी खो देंगे या उन्हें नये कौशल से काम चलाना पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि उन्हें दूसरी नौकरी नहीं मिल सकती, वे एआई पाइपलाइन में कुछ और करने के लिए री-ट्रेनिंग ले सकते हैं।

इस सवाल पर कि अगर कोई टेक्नोलॉजी बेरोज़गारी पैदा करती है, और अर्थव्यवस्था को बिगाड़ती है, तो क्या दुनिया को वह टेक्नोलॉजी अपनानी चाहिए? मैं औद्योगिक क्रांति के दिनों की याद दिलाता हूं। तब भी समाज में लोगों की पैसे कमाने की काबिलियत, कमाने की काबिलियत वगैरह में रुकावट आई थी। लेकिन आखिर में, टेक्नोलॉजी लोगों के लिये फायदेमंद साबित हुई।

यह सही है कि हम एआई के बारे में बहुत सी डरावनी कहानियां सुनते हैं। यह कहना कि एआई के सिर्फ़ डरावने नतीजे होते हैं, सच में डर फैलाना है। यह पश्चिम की बनाई हुई कहानी है क्योंकि वे एक खाई को कंट्रोल करना चाहते हैं। वे दूसरों को एआई इस्तेमाल करने से डराते रहना चाहते हैं ताकि वे खुद सुपीरियर बने रह सकें। एआई का इस्तेमाल करके, भारत और ग्लोबल साउथ में बहुत सी चीज़ें की जा सकती हैं। अगर ये सभी बड़े लोग जो दुनिया के ओपन एआई और एंथ्रोपिक्स में अरबों डॉलर लगा रहे हैं, वे यह भी कह सकते हैं, 'ठीक है, हमने एक कम्युनिटी के तौर पर यह तय किया है कि हम सुपरइंटेलिजेंस में रिसर्च को फंड नहीं करेंगे। हम सिर्फ़ उस रिसर्च को फंड करना चाहते हैं जो एआई बनाए और जिसका सीधा फायदा इंसानियत को हो'। तो इसका मतलब हुआ तो, प्रॉब्लम टेक्नोलॉजी से नहीं है।

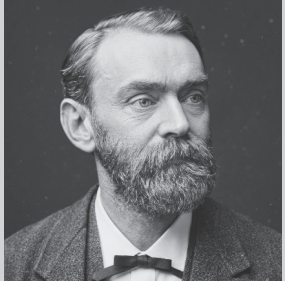
एआई को लेकर मेरा सबसे बड़ा डर यह है कि एआई के तैयार होने से पहले ही इंसान इसे इस्तेमाल करने में जल्दबाजी करेंगे। ऐसा नहीं है कि एआई कुछ करेगा, लेकिन इंसान एआई के तैयार होने से पहले ही एआई के साथ कुछ करने में जल्दबाजी करेंगे। ठीक यही हो रहा है। टेक्नोलॉजी तैयार नहीं है। लेकिन आप उससे बहुत सी चीज़ें करवाने की कोशिश कर रहे हैं।

अगर आप रिसर्च करना चाहते हैं तो बेशक आपको हद पार करने की कोशिश करनी होगी। लेकिन सवाल यह है कि आप किस तरफ़ जा रहे हैं? ऐसा करने की इंसानी कीमत क्या है? आर्टिफिशियल सुपर इंटेलिजेंस बनाने की आर्थिक कीमत क्या है? उस क्लैरिटी के बिना, उस पर ज़ोर देने से इस तरह की कई तरह की चुनौतियां पैदा होंगी।

संयुक्त राष्ट्र (यूएन)ने एआई पर एक इंडिपेंडेंट इंटरनेशनल साइंटिफिक पैनल बनाया है जिसका मैं सदस्य हूं मगर मैं उसकी तरफ से बात नहीं कर रहा हूं बल्कि वह मेरी व्यक्तिगत राय है। हमारा मकसद समय-समय पर यूएन और दूसरे पॉलिसीमेकर्स को यह बताना है कि एआई की हालत और एआई के असर के बारे में असल साइंटिफिक सबूत हमें क्या बताते हैं, न कि डर फैलाने वालों को देखना। हम कोई हाइपोथीसिस नहीं बनाते। हमें रेगुलेशन पर भी ध्यान नहीं देना है।

हम सिर्फ़ 40 अलग-अलग एक्सपर्ट हैं, और हम अपने देश को रिप्रेजेंट भी नहीं करते हैं। हम अपनी अलग-अलग एक्सपर्टीज़ की वजह से पैनल में हैं। हमारा मकसद इस ग्लोबल डायलॉग के साथ-साथ किसी भी सरकार को इनपुट देना है जो इसे हर चीज़ के साइंटिफिक बेसिस पर देखना चाहती है।

हम अपनी साइंटिफिक रिपोर्ट इस उम्मीद से दे रहे हैं कि जो भी रिकमेंडेशन आएंगी, उनके आधार फैसले होंगे इसकी कोई गारंटी नहीं है।❑



नोबेल पुरस्कार 2026

अपनी वसीयत में, अल्फ्रेड नोबेल ने अपनी ज़्यादातर दौलत नोबेल पुरस्कार शुरू करने के लिए छोड़ दी थी। ये पुरस्कार उन लोगों को दिए जाते हैं जिन्होंने इंसानियत को सबसे ज़्यादा फ़ायदा पहुँचाया हो।

हाल ही में छह कैटेगरी में 10 नए नोबेल प्राइज़ विजेताओं के नाम घोषित किए गए हैं। विजेताओं के काम और खोजों में ऑप्टोजेनेटिक्स से लेकर शांति और इंटरनेशनल लॉ को बढ़ावा देने की कोशिशें शामिल हैं।

शांति नोबेल पिल्लै को

भारतीय तमिल मूल की साउथ अफ्रीकी नवनेथेम नवी पिल्लै को शांति और अंतर्राष्ट्रीय कानून को बढ़ावा देने के उनके प्रयासों के लिए इस साल के नोबेल पुरस्कार दिए जाने की घोषणा हुई है।

नोबेल समिति ने कहा, नेल्सन मंडेला और रंगभेद के खिलाफ खड़े हुए दूसरे लोगों का बचाव करने वाले उनके शुरुआती काम से लेकर हमारे समय के कुछ खास इंटरनेशनल कोर्ट केस में जज


नवी पिल्लै

के तौर पर उनकी सेवा में एक सी धारा मिलती हैं।

पिल्लै, साउथ अफ्रीका के हाई कोर्ट की पहली अश्वेत महिला जज थीं।


फ्रांसिस हालजन

फिजिक्स : हालजन को

पृथ्वी से करोड़ों-अरबों किलोमीटर दूर ब्रह्मांड में अतिसूक्ष्म कण बनते हैं। अंटार्कटिका में इन रहस्यमयी कणों का सुराग खोजने वाले अमेरिकी-बेल्जियाई वैज्ञानिक फ्रांसिस हालजन को 2026 का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार दिया गया है।

उन्होंने अंटार्कटिका की एक क्यूबिक किलोमीटर बर्फ को एक ऐसी दूरबीन में बदल दिया जो ब्रह्मांड के सबसे उग्र कोनों से आने वाले घोस्ट पार्टिकल्स (न्यूट्रिनो) को पकड़ती है।

यूनिवर्सिटी ऑफ विस्कॉन्सिन -मैडिसन, अमेरिका के 82 वर्षीय हालजन को 'आइसक्यूब न्यूट्रिनो ऑब्ज़र्वेटरी' में उनकी अहम भूमिका और हमारे सौर मंडल के बाहर से आने वाले हाई-एनर्जी न्यूट्रिनो की खोज के लिए सम्मानित किया गया है।

साहित्य प्राइज़ ऐनी को

इस साल की नोबेल पुरस्कार विजेता ऐनी कार्सन का जन्म टोरंटो, कनाडा में हुआ था। अपने पूरे करियर में, उन्होंने कविता लिखने के साथ-साथ ट्रांसलेशन का काम और यूनिवर्सिटी में पढ़ाया है।

कार्सन की 1998 में आई 'ऑटोबायोग्राफी ऑफ़ रेड: ए नॉवेल इन वर्स' क्लासिकल लिटरेरी ट्रेडिशन को असलियत में बदलने की उनकी काबिलियत का एक उदाहरण माना


ऐनी कार्सन

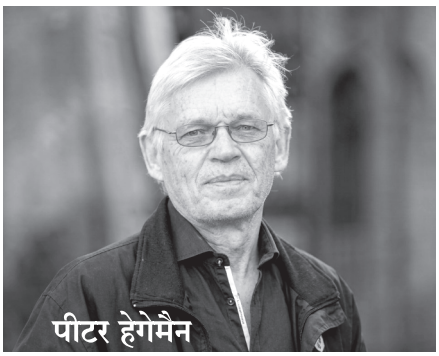
जाता है।

वह पुरातन मिथकों, किरदारों और कहानियों का इस्तेमाल करती हैं और उन्हें आधुनिक संदर्भ में रखती हैं।

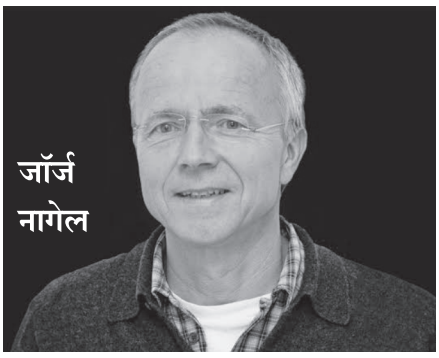
चिकित्सा का नोबेल तीन वैज्ञानिकों को

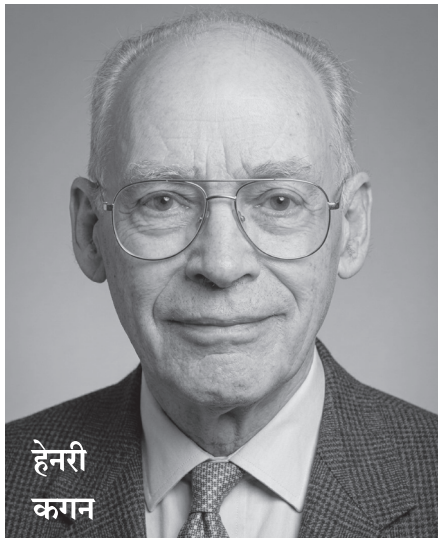
चिकित्सा का नोबेल पुरस्कार अमरीका के कार्ल डेइसेरोथ तथा जर्मनी के पीटर हेगेमैन और उनके साथी जॉर्ज नागेल को संयुक्त रूप से लाइट-गेटेड आयन चैनलों और ऑप्टोजेनेटिक्स से जुड़ी उनकी खोजों के लिए दिया गया है।

उनकी शोधों ने दिमाग के अंदरूनी कामकाज के बारे में और जानने में वैज्ञानिकों की मदद की है, ताकि वे बेहतर ढंग से समझ सकें कि इंसानी दिमाग कैसे काम करता है।


पीटर हेगेमैन


कार्ल डेइसेरोथ


जॉर्ज नागेल


हेनरी कगन


केंसो सोई

रसायन शास्त्र का नोबेल दो वैज्ञानिकों को

फ्रांस के हेनरी बी. कगन और जापान के केंसो सोई को केमिस्ट्री में नोबेल पुरस्कार देने के लिये चुना गया है।

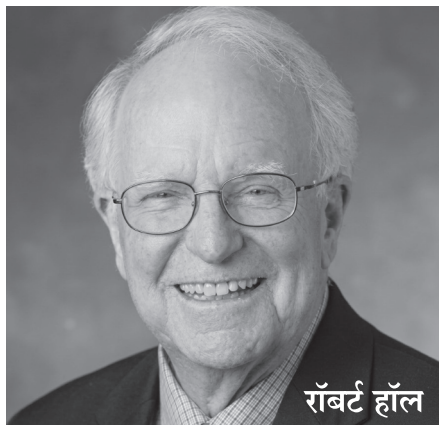
इन रसायनशास्त्रियों ने एक सदी से भी पुराने केमिकल रहस्य का हल खोजा है। उनके काम ने यह समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई कि रासायनिक प्रतिक्रियाओं में छोटे शुरुआती अंतर किस तरह बढ़कर बड़े और नियंत्रित परिणाम पैदा कर सकते हैं।

अर्थशास्त्र का पुरस्कार दो अर्थशास्त्रियों को

नोबेल पुरस्कारों के साथ मिलने वाला इस साल का अर्थशास्त्र का पुरस्कार अमरीका के रॉबर्ट ई. हॉल और माइकल वुडफोर्ड को दिया गया है।

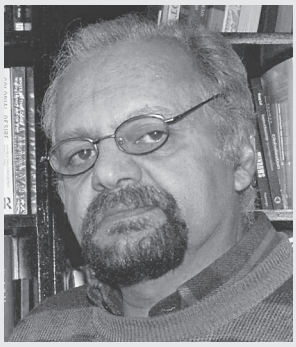
इकोनॉमिक साइंस में मिलने वाला यह पुरस्कार कोई नोबेल प्राइज़ नहीं है। इसे 1968 में स्वीडन की केन्द्रीय बैंक ने देना शुरू किया।

इन दो अर्थशास्त्रियों ने दिखाया कि स्टेबिलाइजेशन पॉलिसी को फिर से शुरू करने के लिए इकोनॉमिक मॉडल्स को कैसे फिर से बनाये जा सकते हैं। इसमें यह समझना भी शामिल है कि अलग-अलग घरानों और व्यवसाय समूह अपने कामों से अर्थव्यवस्था को कैसे प्रभावित करते हैं।


रॉबर्ट हॉल


माइकल वुडफोर्ड

शिक्षण संस्थानों पर भरोसा बहाल करें!



❑
शैली वालिया

पंजाब यूनिवर्सिटी चंडीगढ़ में कल्चरल और लिटरेरी थ्योरी पढ़ाने वाले लेखक राष्ट्रीय परीक्षाओं की जगह संस्थानों पर भरोसा बहाल करने की हिमायत कर रहे हैं। सं.

❑

एक समय था जब भारत में नेशनल एग्जाम का एक साफ़ और सीमित मकसद होता था: कुछ हज़ार ऑफिसर, सैनिक और इंजीनियर चुनना, और वह भी पूरे सबकॉन्टिनेंट में सही तरीके से। अब ऐसा नहीं होता है। हमने इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस और इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ टेक्नोलॉजी का लॉजिक लेकर उसे हर डिसिप्लिन, हर कॉलेज और हर करियर में फैला दिया है। कुछ लोगों के लिए बनाया गया यह डिवाइस अब बहुतों पर राज कर रहा है। और देश इस ज़्यादा दखल की कीमत चुका रहा है।

नेशनल एलिजिबिलिटी-कम-एंट्रेंस टेस्ट (नीट), जॉइंट एंट्रेंस एग्जामिनेशन (जी), यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन नेशनल एलिजिबिलिटी टेस्ट (यूजीसी-नेट) और दूसरे एग्जाम अब ऑन्कोलॉजी से लेकर ऑर्गेनिक केमिस्ट्री और हिस्ट्री से लेकर पंजाबी लिटरेचर तक के डिसिप्लिन में लाखों कैंडिडेट का टेस्ट लेते हैं, और ये सभी एक ही मल्टीपल-चॉइस फॉर्मेट से होते हैं। ज़ाहिर है, यह तरीका एक जैसा होने के लिए बनाया गया है। असल में इसका इस्तेमाल टैलेंट, सोचने की क्षमता और क्रिटिकल थिंकिंग की पहचान करने के लिए किया जाना है। मगर यही वह चीज़ है जो यूनिफॉर्म टेस्टिंग में नहीं होती।

दूसरा तरीका आसान है। संस्थाओं को चुनने दें। लिटरेचर या फिजिक्स का एक अच्छा छात्र किस चीज़ से बनता है, यह उस डिपार्टमेंट से बेहतर कोई नहीं बता सकता जो उसे एडमिशन देगा। डिपार्टमेंटल एग्जाम फैकल्टी को फैसला लेने का अधिकार देते हैं, और छात्रों को यह आज़ादी देते हैं कि वे वहीं अप्लाई करें जहां उनकी काबिलियत है, न कि वहां जहां ऑल इंडिया रैंक उन्हें पंहुचाती है।

पश्चिम के उन सिस्टम में आम बात है जिन्हें हम मॉडल के तौर पर देखते हैं। प्रोफेसर की अपॉइंटमेंट कभी उन लोगों के साथ बातचीत पर आधारित होती थी जो काम जानते थे।

यह इंटेलेक्चुअल बातचीत के ज़रिए फैसले की जांच होती थी, फैक्ट्स की नहीं। टीचर, जो बहुत अच्छे थे, अक्सर सिलेबस से आगे जाते थे और हमेशा बातचीत के लिए तैयार रहते थे। किसी ने नेट नहीं दिया था।

आज, कई छात्रों में टेस्ट से कहीं ज़्यादा टैलेंट है। वे इसलिए फेल नहीं होते क्योंकि वे सोच नहीं सकते, बल्कि इसलिए कि टेस्ट उनसे ऐसा करने के लिए नहीं कहता। वह बस उनसे एक टेक्नीक में महारत हासिल करने के लिए कहता है।

हमने स्टैंडर्डाइजेशन के नाम पर एक ऐसा सिस्टम बनाया है जो ठीक उसी चीज़ को खारिज करता है जिसकी जांच करने का वह दावा करता है। मैंने दशकों से अंदर से बदलाव देखा है। क्लासरूम में चर्चा की क्वालिटी, स्टूडेंट की रीडिंग की गहराई, टीचर का सिर्फ़ कोट करने के बजाय सच में सवाल पूछने की इच्छा, ये सब काफ़ी कम हो गया है। इसकी जगह एक ऐसी पीढ़ी ने ले ली है जो रटने वाली, चॉइस पर आधारित टेस्टिंग से आ रही है, और उसमें वैसी बड़ी, बिना बनावट वाली रीडिंग बहुत कम दिखती है जैसी पहले क्लासरूम में आने वाले किसी भी व्यक्ति से उम्मीद की जाती थी। परीक्षा ने सच में बदल दिया है कि क्लासरूम का मतलब क्या था।

यही समस्या भर्ती के प्रोसेस में भी चलती है। सिलेक्शन कमेटियां अब पब्लिकेशन की संख्या और रिसर्च स्कोर पर ज़्यादा निर्भर हो गई हैं। प्रमोशन और अपॉइंटमेंट से जुड़ी मिनिमम पब्लिकेशन की ज़रूरतों ने आइडिया के बजाय पेपर्स के लिए मार्केट बना दिया है। जिन जर्नल्स की

हमने स्टैंडर्डाइजेशन के नाम पर एक ऐसा सिस्टम बनाया है जो ठीक उसी चीज़ को खारिज करता है जिसकी जांच करने का वह दावा करता है। मैंने दशकों से अंदर से बदलाव देखा है। क्लासरूम में चर्चा की क्वालिटी, स्टूडेंट की रीडिंग की गहराई, टीचर का सिर्फ़ कोट करने के बजाय सच में सवाल पूछने की इच्छा, ये सब काफ़ी कम हो गया है।

कोई एकेडमिक हैसियत नहीं है, वे ज़्यादातर वही स्वीकार करती हैं जो एप्लिकेंट को एक तय डेडलाइन तक तय रिसर्च-स्कोर की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पब्लिश करना होता है।

यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन के 2018 के रेगुलेशंस ने पहले के एपीआई-बेस्ड परफॉर्मेंस बेस्ड अप्रेज़ल सिस्टम को बंद कर दिया और रिसर्च स्कोर को शामिल करते हुए एक बदला हुआ असेसमेंट फ्रेमवर्क पेश किया। फिर भी, असली समस्या बनी हुई है।

एकेडमिक अचीवमेंट को अक्सर सिर्फ़ उसी चीज़ तक सीमित कर दिया जाता है जिसे गिना जा सके। इसी गणित ने पीएचड़ी को ही खोखला कर दिया है। मैं यह सुनी-सुनाई बातों के आधार पर नहीं बल्कि सीधे अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूं।

जब किसी टीचिंग पोस्ट के लिए किसी कैंडिडेट की डॉक्टरेट को तौला जाता है, तो सिलेक्शन मैट्रिक्स में उसके लिए आमतौर पर 30 मार्क्स अलग रखे जाते हैं। यह कुल का एक बड़ा हिस्सा है। फिर भी, उस वज़न में से लगभग कोई भी थीसिस के पीछे के दिमाग की क्वालिटी, तर्क की मज़बूती, या कैंडिडेट ने उससे जो पेपर निकाले हैं, उनकी काबिलियत को नहीं दिखाता। इंटरनेशनल स्टैंडर्ड बुक नंबर या इंटरनेशनल स्टैंडर्ड सीरियल नंबर मिलना किसी की काबिलियत का सबूत नहीं है।

तथाकथित ऑथेंटिकेटेड जर्नल सात या आठ सब्जेक्ट में एक ही टाइटल, जर्नल ऑफ़ इंटरनेशनल स्टडीज़ के तहत पब्लिश करते हैं, जो हिस्ट्री, मैनेजमेंट, लिटरेचर और लॉ को एक ही इश्यू में छापेंगे, और सबमिशन को क्वालिफाइड रेफरी के पास भेजने का कोई सीरियस प्रोसेस नहीं होगा। जो भी सबमिट करता है, वह पब्लिश हो जाता है।

इसके अलावा, पाइपलाइन के दूसरे छोर पर भी सुपरविज़न का काम उतना ही बढ़ गया है, जैसा कि डॉक्टरेट थीसिस में दिखता है, जिसे एक सुपरवाइज़र की रिपोर्ट के साथ डाल दिया जाता है, जिसने उसे ठीक से पढ़ा नहीं होता। वाइवा तो दुख की बात है कि इतनी हल्की फॉर्मैलिटी बन गया है

एकेडमिक अचीवमेंट को अक्सर सिर्फ़ उसी चीज़ तक सीमित कर दिया जाता है जिसे गिना जा सके। इसी गणित ने पीएचड़ी को ही खोखला कर दिया है। मैं यह सुनी-सुनाई बातों के आधार पर नहीं बल्कि सीधे अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूं।

कि जो लोग इसे देखते हैं, वे इसे मज़ाक समझते हैं। यह बेतुकापन वाइस-चांसलर की कुर्सी पर अपने चरम पर पहुँच जाता है।

सर्च कमेटियों को कैंडिडेट्स से यह पूछते हुए देखा गया है कि उनके पास कितने पेटेंट हैं ˙ यह एक ऐसा सवाल है जिसका एप्लाइड साइंस के एक छोटे से दायरे के बाहर कोई मतलब नहीं है। यह जवाब लगभग जानबूझकर साइंस, टेक्नोलॉजी, इंजीनियरिंग और मैथेमेटिक्स फील्ड के कैंडिडेट्स के पक्ष में देखा गया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक बड़ी लैब चलाने वाला साइंटिस्ट हर रिसर्च कैंडिडेट के पेपर के साथ अपना नाम जोड़ सकता है, जो उससे होकर गुज़रता है, इस तरह एक ऐसा पब्लिकेशन काउंट मिलता है जिसे अकेले काम करने वाला कोई भी ह्यूमैनिटीज़ स्कॉलर कभी मैच नहीं कर सकता। ऐसा कैंडिडेट वाइस-चांसलर के ऑफिस में एक ही लैब में अपना पूरा करियर बिताने के बाद आता है, और उसे यूनिवर्सिटी के अलावा कहीं और जाने का कोई अनुभव नहीं होता।

यह कहना बिल्कुल भी गलत नहीं होगा कि इस तरह के वाइस-चांसलर ने, कई मामलों में, कभी कोई नॉवेल या कविता नहीं पढ़ी होती, और उन्हें एक ऐसे इंस्टीट्यूशन को हेड करने के लिए कहा जा रहा है जिसका मकसद लैब से आगे दिमाग को डेवलप करना है।

इनमें से कुछ भी सिर्फ़ मेट्रिक्स को एडजस्ट करके ठीक नहीं किया जा सकता, क्योंकि बहुत सारे सिलेक्शन असल में मेट्रिक्स पर निर्भर नहीं करते। भारतीय यूनिवर्सिटीज़ में बहुत सारे अपॉइंटमेंट्स फ़ैसले के बजाय नेटवर्किंग

परीक्षाओं को वापस फैकल्टी में डीसेंट्रलाइज़ करना, और नियुक्तियों को पॉइंट-स्कोरिंग के बजाय साथियों की जांच के आधार पर वापस लाना, कोई उदास करने वाला कदम नहीं है। यह एक दावा है कि एक विश्वविद्यालय किस लिए है। इसके लिए ज़्यादा समय, ज़्यादा जवाबदेही और बिना किसी नंबर के पीछे छिपने के लिए अपने विकल्प का बचाव करने की हिम्मत की ज़रूरत है। बदले में, यह संस्थानों को उम्मीदवारों का चयन परीक्षा क्रैक करने के लिए नहीं, बल्कि उनकी बौद्धिक क्षमता के आधार पर करने की उनकी सही ज़िम्मेदारी वापस देता है।

से तय होते हैं। ऐसे मामलों में, मेरिट को कभी भी असल में क्राइटेरिया नहीं माना गया।

इस लेखक के अपने एसोसिएट प्रोफ़ेसर की पोस्ट के इंटरव्यू में देश के चार सबसे जाने-माने प्रोफ़ेसरों की एक कमिटी थी, जिसे एक सच में विद्वान वाइस-चांसलर हेड कर रहे थे; इंटरव्यू 40 मिनट से ज़्यादा समय तक चला। यह एक कड़ी, बिना किसी जल्दबाज़ी वाली बातचीत थी, और उसके बाद जो सिलेक्शन हुआ वह पूरी तरह से फेयर था, जिसमें किसी की तरफ़ से एक भी ज़ोर नहीं डाला गया। यही वह स्टैंडर्ड है जिसके आधार पर आज के अपॉइंटमेंट्स, और उस मामले में आज के एडमिशन, को मापा जाना चाहिए।

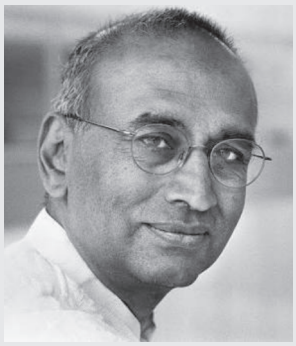
सख़्त कानून टूटे हुए सिस्टम को ठीक नहीं कर सकते। एग्ज़ामिनर्स और टेस्टिंग एजेंसियों के लिए पेनल्टी किसी गलती की सज़ा हो सकती है, लेकिन वे इसे रोकने के लिए कुछ नहीं करते।

अगर हम ऐसी यूनिवर्सिटीज़ चाहते हैं जो ग्लोबल लेवल पर मुकाबला कर सकें, तो हमें वहीं से शुरू करना होगा जहां असल में क्वालिटी बनती है। यूनिवर्सिटी डिपार्टमेंट में ऐसा उन साथियों के अपॉइंटमेंट से हो रहा है जो अपने फैसले के लिए जवाबदेह होने को तैयार हैं। हायर लर्निंग की कई यूनिवर्सिटी में यही ऑपरेटिंग लॉजिक देखा जाता है।

पुरानी यादों की वजह से नहीं। परीक्षाओं को वापस फैकल्टी में डीसेंट्रलाइज़ करना, और नियुक्तियों को पॉइंट-स्कोरिंग के बजाय साथियों की जांच के आधार पर वापस लाना, कोई उदास करने वाला कदम नहीं है। यह एक दावा है कि एक विश्वविद्यालय किस लिए है। इसके लिए ज़्यादा समय, ज़्यादा जवाबदेही और बिना किसी नंबर के पीछे छिपने के लिए अपने विकल्प का बचाव करने की हिम्मत की ज़रूरत है। बदले में, यह संस्थानों को उम्मीदवारों का चयन परीक्षा क्रैक करने के लिए नहीं, बल्कि उनकी बौद्धिक क्षमता के आधार पर करने की उनकी सही ज़िम्मेदारी वापस देता है।

अगर हम ऐसे विश्वविद्यालय चाहते हैं जो स्कोर की गणना करने के बजाय दिमाग बनाते हैं, तो हमें उनमें काम करने वालों के शैक्षणिक निर्णय पर अपना भरोसा बहाल करना होगा। उनकी ईमानदारी उनके निर्णयों का पैमाना होनी चाहिए, और समाज को अंततः उन्हें उनके द्वारा दिए गए स्कोर के लिए नहीं बल्कि उनके निर्णय की गुणवत्ता के लिए जवाबदेह ठहराना चाहिए।❑

उन्नत चिकित्सा असमानता का सबब भी है!



❑
वेंकी रामकृष्णन

बायोलॉजी में हाल की वैज्ञानिक खोजों की पड़ताल करते हुए, रसायन का नोबेल पुरस्कार पाने वाले वैज्ञानिक बता रहे हैं कि प्राकृतिक बायोलॉजी में बदलाव करके उम्र बढ़ाने की हमारी अत्याधुनिक कोशिशों ने गंभीर सवाल खड़े किए हैं। जैसे-जैसे विज्ञान आगे बढ़ रहा है, हमें बहुत कुछ हासिल हो सकता है। लेकिन क्या हम बहुत कुछ खो भी सकते हैं? सं.

❑

मैं अब लगभग उसी उम्र का हूं जिस उम्र में मेरे दादा-दादी की मौत हुई थी। मैं जैसी एक्टिव लाइफ़स्टाइल जीता हूं, वैसी ज़िंदगी की वे अपनी ज़िंदगी के आखिरी दशक में कल्पना भी नहीं कर सकते थे। आज लोगों की नब्बे या उससे ज़्यादा उम्र होना आम बात हो गई है। ज़्यादा आय वाले देशों में अभी बुज़ुर्गों की आबादी लगभग 20 प्रतिशत है और दुनिया के कई इलाकों में 2050 तक इसके दोगुना होने की उम्मीद है।

लंबी उम्र के सामाजिक नतीजे बहुत बड़े हैं। सरकार द्वारा चलाए जा रहे लगभग सभी रिटायरमेंट प्रोग्राम यह मानकर चलते हैं कि लोग 65 साल की उम्र के आसपास काम करना बंद कर देंगे। ये नियम तब बनाए गए थे जब लोग रिटायरमेंट की उम्र के बाद आम तौर पर कुछ ही साल और जीते थे, लेकिन अब वे इसके बाद दो दशक और जी सकते हैं।

इससे असमानता की समस्या पैदा होती है। अमीर और गरीब की औसत उम्र में पहले से ही बहुत बड़ा अंतर है। इंग्लैंड में यह अंतर लगभग दस साल का है। अमेरिका में सबसे अमीर लोग सबसे गरीब लोगों की तुलना में लगभग 15 साल ज़्यादा जीते हैं।

मेडिसिन के क्षेत्र में हुई तरक्की से हमेशा असमानता बढ़ने की संभावना रही है। इतिहास गवाह है कि विकसित देशों में सबसे पहले अमीरों को ही इसका फ़ायदा मिला है। बाद में, इन देशों के दूसरे लोगों को भी इसका फ़ायदा मिल सकता है, लेकिन यह इस बात पर निर्भर करता है कि हेल्थ-केयर सिस्टम और इंश्योरेंस कंपनियां इन इलाज के तरीकों को कितना ज़रूरी मानती हैं। इसके बाद ही ये तकनीकें दुनिया के बाकी हिस्सों तक पहुंचेंगी, जहां सिर्फ़ वही लोग इनका फ़ायदा उठा पाएंगे जो इनका खर्च उठा सकते हैं। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों के लोगों की सेहत और आर्थिक स्थिति में हम पहले से ही ऐसा देख रहे हैं। इसलिए, उम्र बढ़ने से जुड़ी रिसर्च में होने वाली किसी भी तरक्की से भी इसी तरह असमानता बढ़ने की संभावना है।

लेकिन असमानता के दूसरे प्रकारों के उलट, जीवन की अवधि और क्वालिटी में असमानता न केवल खुद को बनाए रखने की क्षमता रखती है, बल्कि असल में असमानता को और भी बढ़ा सकती है। व्हाइट-कॉलर नौकरियों वाले आर्थिक रूप से संपन्न लोग अब ज़्यादा समय तक जी सकेंगे और काम कर सकेंगे, और अपनी आने वाली पीढ़ियों को और भी ज़्यादा पारिवारिक संपत्ति सौंप सकेंगे, जिससे असमानता और बढ़ेगी। जब तक इलाज बहुत सस्ते और जेनेरिक नहीं हो जाते - जैसे

कोलेस्ट्रॉल कम करने वाली स्टेटिन या ब्लड प्रेशर की दवाएं – तब तक इस बात का गंभीर खतरा है कि हम इंसानों के दो स्थायी वर्ग बना देंगे: वे जो अच्छी सेहत के साथ बहुत लंबा जीवन जीते हैं, और बाकी लोग।

फिर भी, जैसे-जैसे लोगों की उम्र बढ़ रही है, आबादी भी बढ़ेगी, जब तक कि इन दो में से कोई एक बात न हो: या तो फर्टिलिटी रेट और कम हो जाए, या फिर बच्चे पैदा करने की औसत उम्र, लोगों की औसत उम्र (लाइफ एक्सपेक्टेंसी) के साथ-साथ बढ़ जाए। हालाँकि, इन दोनों ही स्थितियों में कुछ दिक्कतें हैं। कई देशों में बच्चे पैदा करने की औसत उम्र धीरे-धीरे इतनी बढ़ गई है कि अब यह बायोलॉजी की सीमाओं के करीब पहुँच रही है। 30-35 साल की उम्र के बाद महिलाओं को गर्भधारण करने में ज़्यादा मुश्किल होती है और जल्द ही उन्हें मेनोपॉज़ (रजोनिवृत्ति) का सामना करना पड़ता है। अगर हम उम्र बढ़ने के साथ-साथ मेनोपॉज़ में भी देरी कर सकें, तो बच्चे पैदा करने में देरी की समस्या हल हो जाएगी और यह महिलाओं के लिए ज़्यादा बेहतर होगा; क्योंकि कई महिलाओं को उस समय यह तय करने की समस्या का सामना करना पड़ता है कि बच्चे पैदा करें या नहीं, जब उनका करियर आगे बढ़ रहा होता है। हालाँकि, मेनोपॉज़ एक बहुत ही जटिल बायोलॉजिकल प्रक्रिया का नतीजा है, और ऐसा कोई सबूत नहीं है कि हम इसके शुरू होने की उम्र को बदल पाएँगे। बेशक, मेनोपॉज़ के बाद भी महिलाओं के लिए बच्चे पैदा करने के तरीके मौजूद हैं – जैसे कि बाद में इम्प्लांटेशन के लिए एग्स (अंडे) को फ्रीज़ करना और साथ में हार्मोन ट्रीटमेंट लेना-लेकिन ये तरीके महंगे और मुश्किल हैं, और इनमें काफ़ी जोखिम भी है। बढ़ती उम्र के साथ आबादी को बढ़ने से रोकने का एक और तरीका है कि और भी कम बच्चे पैदा किए जाएँ, जिसका मतलब होगा कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा बुज़ुर्ग होगा, और इसके अपने नतीजे होंगे। इस बात के बहुत सारे सबूत हैं कि जीवन में कोई मकसद होने से हर तरह की वजहों से होने वाली मौत का खतरा कम होता है, साथ ही स्ट्रोक, दिल की बीमारी, सोचने-समझने की क्षमता में हल्की कमी और अल्जाइमर होने की संभावना भी कम हो जाती है।❑



गांधी जयंती : बापू की याद

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में गांधी जयंती पर एक छोटे से आत्मीय कार्यक्रम में बापू को याद किया गया। कार्यक्रम की शुरुआत बापू के सबसे प्रिय भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहिए' से हुई जिसे हमने लता मंगेशकर की विलक्षण आवाज में सुना। साथ में नरसी मेहता के इस भजन को दुनिया के दर्जनों देशों के नागरिकों को अपने-अपने अंदाज में तन्मयता से गाते हुए एक छोटी फिल्म में भी देखा। पत्रकार बृजेन्द्र रेही द्वारा दूरदर्शन के लिये बनाये गए एक सीरियल का वह अंश भी देखा जिसमें महात्मा गांधी की सादगी की बात थी और उस पर लोगों की राय थी। फिल्मकार रिचर्ड एटनबरो की फिल्म 'गांधी' के दो अंश भी प्रदर्शित किए गए जिनमें गांधी अंग्रेजों से कह रहे हैं आप खुद ही समझदारी से चले जाएं; अपनी समस्याएं हम खुद निपटाएंगे। और वो समस्याएं हमारी होंगी औरों की नहीं!

दूसरे में वे मीरा बेन को कह रहे थे: निराशा ने जब भी घेरा तो बार-बार इतिहास साक्षी हुआ कि सत्य की सदा विजय हुई। इस धरती पर बहुत से हत्यारे और सितमगर हुए और कभी कभार ऐसा लगा कि विजय उन्हीं को मिलेगी। मगर आखिर यही हुआ कि वो मिट गए। यह हमेशा ध्यान में रहे। जब भी तुम्हें इस बार का शक हो कि ईश्वर की इच्छा है और इसीलिए दुनिया चल रही है इस मार्ग पर तो यह सोचना, और कोशिश करना सही राह पर चलने की। ❑

बुढ़ापे और बीमारियों के देखने की नई निगाह



❑
रोवन जैकबसन

विज्ञान पत्रकार चिकित्सा विज्ञान में बुढ़ापे तथा बीमारियों को लेकर सामने आये नये नज़रिये को समझा रहे हैं। सं.

❑

बीमारियों की बात करें तो, टाइप 2 डायबिटीज़ और मिर्गी में ज़्यादा कुछ एक जैसा नहीं लगता। एक मेटाबोलिक डिसऑर्डर है जिसमें हाई ब्लड ग्लूकोज़ और इंसुलिन का काम न करना शामिल है, दूसरा न्यूरॉन्स और इलेक्ट्रिकल पल्स का मामला है। इसलिए यह अजीब है कि दोनों अक्सर उपवास पर रिस्पॉन्ड करते हैं। इसी तरह, डिप्रेशन, मोटापा, अल्ज़ाइमर, दिल की बीमारीये सभी बहुत अलग-अलग बीमारियाँ हैं, फिर भी इन सभी पर डाइट का असर होता है। यह एक जैसी कमज़ोरी मेटाबॉलिज़्म की ओर इशारा करती है,जिस तरह से हम अपने खाने से एनर्जी लेते हैं और उसे अपने सेल्स को पावर देने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

बीमारी को एनर्जी पर आधारित नज़रिए से देखने के सबसे बड़े समर्थकों में से एक हैं मार्टिन पिकार्ड, जो एक बायोलॉजिस्ट हैं और कोलंबिया यूनिवर्सिटी में माइटोकॉन्ड्रियल साइकोबायोलॉजी ग्रुप को डायरेक्ट करते हैं। वे कहते हैं, एक बार जब हम खुद को एनर्जेटिक प्रोसेस के तौर पर देखते हैं, तो कई चीज़ें समझ में आने लगती हैं जो मॉलिक्यूलर नज़रिए से समझ में नहीं आती थीं।

पिकार्ड और उनके कई साथी यह बड़ा दावा कर रहे हैं कि कई पुरानी बीमारियां जिन्हें हम अलग-अलग अंगों की अलग-अलग खराबी मानते हैं, उन सब में एक गहरी समस्या हो सकती है: कोशिकाओं का खाने से एनर्जी निकालने और इस्तेमाल करने में संघर्ष करना। अगर वे सही हैं, तो अब अलग-अलग विशेषज्ञताओं में बंटी बीमारियों के पीछे एक आम कमज़ोरी सामने आती है, और जिससे लगता है कि मेडिसिन ने शायद एक सदी गलत जगहों पर सीमाएं खींचने में बिताई है।

इस तर्क के केंद्र में माइटोकॉन्ड्रिया हैं, जो हमारी कोशिकाओं में रहने वाले अति सूक्ष्म माइक्रोस्कोपिक ऑर्गेनेल हैं और खाने के मॉलिक्यूल्स में जमा एनर्जी को एडेनोसिन ट्राइफॉस्फेट, याने एटीपी में बदलते हैं। एटीपी मॉलिक्यूलर पावर पैक है जो शरीर में लगभग हर रिएक्शन को चलाता है, चाहे वह हिलना-डुलना हो, सोचना हो या ठीक होना हो। हम हर दिन अपने शरीर के वज़न के बराबर एटीपी बनाते हैं, और उतना ही जलाते हैं।

हमारे माइटोकॉन्ड्रिया में किसी भी तरह की गड़बड़ी से एटीपी की कमी हो जाएगी, जिससे कोशिकाओं के पास अपना काम करने के लिए कम एनर्जी

बचेगी। पिकार्ड का मानना है कि खराब सेहत की कई परेशानियां वहीं से शुरू होती हैं। उनका कभी अनोखा माना जाने वाला रिसर्च फोकस अब मुख्यधारा का हो गया है। यूनिवर्सिटी ऑफ़ वाशिंगटन में हेल्दी एजिंग एंड लॉन्गविटी रिसर्च इंस्टीट्यूट के पूर्व डायरेक्टर मैट केबरलेन कहते हैं, हर कोई इस बात से सहमत है कि माइटोकॉन्ड्रियल डिसफंक्शन उम्र बढ़ने की बायोलॉजी का हिस्सा है माइटोकॉन्ड्रियल डिसफंक्शन ज़्यादातर आम बीमारियों का कारण हो सकता हैलगभग किसी भी बीमारी को आप देखें, आपको उसमें माइटोकॉन्ड्रियल कनेक्शन मिलेगा।

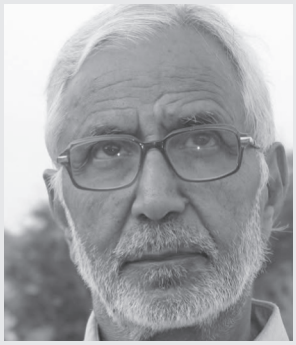
शरीर में इलेक्ट्रॉन्स का प्रवाह पावर ग्रिड से बिजली के प्रवाह जैसा होता है। बिजलीघरों से तारों के ज़रिए बिजली हमारे घरों तक पहुंचाती है, जहां हमारे डिवाइस उस एनर्जी का इस्तेमाल करके हमारे कमरों को रोशन करते हैं और हमारी ज़िंदगी को चलाते हैं। करंट को सही जगहों पर सही मात्रा में रेजिस्टेंस मिलना चाहिए। रेजिस्टेंस के बहुत कम होने पर, ऊर्जा बिना कोई काम किए निकल जाती है, और आखिर में दूसरे पार्ट्स को नुकसान पहुंचाती है।

हमारे माइटोकॉन्ड्रिया में भी कुछ ऐसा ही होता है। आदर्श स्थिति में, इलेक्ट्रॉन ट्रांसपोर्ट चेन से इलेक्ट्रॉन के गुज़रने की रफ़्तार बस इतनी धीमी हो जाती है कि उनकी एनर्जी ट्रांसफर हो सके। लेकिन अगर माइटोकॉन्ड्रियल सर्किट खराब हो जाते हैं या अगर खाने से सिस्टम में माइटोकॉन्ड्रिया जितने इलेक्ट्रॉन संभाल सकता है, उससे ज़्यादा आ जाते हैं, तो प्रवाह रुक सकता है। फिर इलेक्ट्रॉन चेन से लीक हो सकते हैं। माइटोकॉन्ड्रिया के गलत हिस्सों में ऑक्सीजन के साथ बॉन्डिंग से बहुत ज़्यादा रिएक्टिव फ्री रेडिकल्स बनते हैं जो आस-पास के मॉलिक्यूल्स पर हमला करके उन्हें खराब कर देते हैं। ये रिएक्टिव ऑक्सीजन स्पीशीज़, या आरओएस, माइटोकॉन्ड्रिया, सेल्स और अंगों को असली नुकसान पहुंचा सकती हैं।

माइटोकॉन्ड्रिया में इलेक्ट्रॉन कितनी भी आसानी से क्यों न बहें, रोज़मर्रा की ज़िंदगी में कुछ हद तक आरओएस का होना ज़रूरी है। 1950 के दशक में पहली बार आई क्लासिक फ्री-रेडिकल थ्योरी, कहती थी कि उम्र बढ़ना खुद हमारे सेल्स में दशकों तक आरओएस के लगातार जमा होने और इससे होने वाली टूट-फूट की वजह से होता है। अब हम जानते हैं कि शरीर आरओएस की मैनेजेबल मात्रा को रिपेयर करने में काफी काबिल है, जो कम लेवल पर उस सिग्नल का काम भी कर सकता है, जो सेल को किसी काम करने के लिए कहता है। माइटोकॉन्ड्रिया तभी खराब होते हैं जब ऑक्सीडेटिव स्ट्रेस काबू से बाहर हो जाता है, लेकिन जब ऐसा होता है, तो वे इलेक्ट्रॉनों को कम असरदार तरीके से मूव करते हैं, जिससे और भी ज़्यादा आरओएस और ज़्यादा नुकसान होता है। आखिरकार कोशिकाएं अपनी क्षमता खो देती हैं, और शरीर भी है।

पिकार्ड ने के अनुसार अगर पुरानी बीमारी का एक बड़ा कारण बस खाने से मिलने वाले बहुत ज़्यादा इलेक्ट्रॉन हैं जो माइटोकॉन्ड्रियल वायर को खराब कर देते हैं, तो मेडिसिन का एक बड़ा लक्ष्य उस ओवरलोड को कम करना होना चाहिए। लंबी उम्र का राज़ है, सबसे अच्छे एनर्जी रेजिस्टेंस पर जीने के तरीके ढूंढना।

केबरलेन कहते हैं, खास बीमारी इस बात पर निर्भर करती है कि माइटोकॉन्ड्रियल डिसफंक्शन कहाँ हो रहा है। अगर यह मांसपेशियों में है, तो आपको मस्कुलर डिजनरेशन, मायोपैथी, ऐसी चीजें होती हैं। अगर यह दिल में है, तो आपको अलग-अलग तरह की दिल की बीमारी होती है। दिमाग भी इससे अलग नहीं है। आपको पार्किंसंस बीमारी जैसी चीजें होती हैं। निश्चित रूप से माइटोकॉन्ड्रियल डिसफंक्शन अल्जाइमर सहित दूसरे तरह के डिमेंशिया में योगदान देता है। अल्जाइमर का लिंक इतना मजबूत है कि पाउला मोरेरा, जो जर्नल ऑफ़ अल्जाइमर डिजीज की को-एडिटर इन चीफ हैं और ब्रेन माइटोकॉन्ड्रिया की स्पेशलिस्ट हैं, ने इस बीमारी को दिमाग की डायबिटीज कहना शुरू कर दिया है। यह दावा कि माइटोकॉन्ड्रियल डिसफंक्शन शारीरिक बीमारियों के साथ-साथ मेंटल हेल्थ डिसऑर्डर का भी एक कारण है, कई लोगों को हैरान कर देता है। यह सोचना आसान नहीं है कि एनर्जी सप्लाई हमारे दिमाग पर उतना असर डालती है जितना हमारी मसल्स पर, लेकिन दिमाग शरीर का सबसे ज़्यादा एनर्जी लेने वाला अंग है। न्यूरॉन्स फैमिली सेडान के बजाय फॉर्मूला वन रेस कारों के ज़्यादा करीब हैं, जो बहुत तेज़ी से फ्यूल जलाते हैं और किसी भी पल फटने का खतरा रहता है। अगर कोई सेल्स एनर्जेटिक स्ट्रेस के लक्षण दिखाएंगे, तो वे वही हैं। ❑



सदाशिव श्रोत्रिय

कार के साथ इंसान का रिश्ता !

❑

शिक्षाविद्–चिंतक के जीवन अनुभव से निकली इन बातों को दकियानूसी कह कर खारिज़ नहीं किया जा सकता। सं.

लोग ऐसा मानते हैं कि मोबाइल ने भारतीय जीवन को कई तरह से प्रभावित किया है। पर मेरी मान्यता है कि उससे भी बहुत पहले एक वस्तु के आविष्कार ने मानव समाज को बहुत गहराई से प्रभावित किया था। इस वस्तु का आविष्कार तो उन्नीसवीं सदी के अंत में ही हो गया था किंतु सार्वजनिक उपयोग के लिए इसका विधिवत उत्पादन 1913 में हेनरी फोर्ड द्वारा प्रारंभ हुआ। इस वस्तु का आविष्कार एक भौतिक देवी के अवतरण जैसा था क्योकि इसका सान्निध्य प्राप्त कर लेने के बाद इसके भक्त अन्य लोगों के मुक़ाबले अपने आपको अधिक बलशाली अनुभव करने लगे थे और अन्य लोग भी उन्हें महज इस देवी के सान्निध्य की वजह से अपने से बहुत ऊंचा मानने लगे थे। बहुत से लोग तब धीरे धीरे इस देवी के भक्त होकर इसकी प्राप्ति के लिए अपना बहुत सा धन और सेवाएं देने को तैयार हो गए।

यह वस्तु मोटर कार थी। हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि कार के आगमन ने दुनिया के हर समाज को काफ़ी गम्भीरता से प्रभावित किया था। कार के आते ही हर देश का समाज जैसे एकदम दो हिस्सों में बंट गया: कार वाले लोगों का समाज और बिना कार वाले लोगों का समाज। कार दरअसल चीज़ ही ऐसी थी – लोगों को एकदम दो हिस्सों में बांट देने वाली। कार में बैठते ही कोई व्यक्ति अपने आप को उसके साथ के बहुत से लोगों की दुनिया से अलग कर लेता है – उस दुनिया से जिसमें लोग किसी सड़क पर थूकते हैं और उसी सड़क पर चलते भी हैं, उस दुनिया से जिसमें लोग अपना सामान खुद ढोते हुए चलते हैं, उस दुनिया से जिसमें लोगों के लिए बहुत दूर की किसी जगह तक जाने के लिए सार्वजनिक वाहन ही एकमात्र विकल्प होता है।

यह बात भी महत्वपूर्ण है कि मनोवैज्ञानिक रूप से भी कार किसी व्यक्ति को बाहरी दुनिया से जैसे एक सुरक्षित पनाहगाह में लेकर चली जाती है। कार में बैठ कर उसे लगता है जैसे उसने बहुत से आक्रामक बलों से रक्षा के लिए कोई कवच धारण कर लिया हो। एक कार का मालिक हो जाने से व्यक्ति में यह आत्मविश्वास पैदा हो जाता है कि उसने अपने लिए एक बड़ा और स्थायी आलम्बन खोज लिया है। जैसे लोग पहले किसी रिश्तेदार या परिचित व्यक्ति से आलम्बन की उम्म्मीद करते थे वैसे अब वे अपने लिए कार को भी एक स्थाई आलम्बन के रूप में देखने लगते हैं।

हमारे देश में कार जिस एक और महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन का कारण बनी वह यह था कि हमारे यहां के जो अधिकतर लोग उन गली मुहल्लों में रहते थे जिनमें कार आसानी से नहीं जा सकती थी उनके यहां कार वालों ने धीरे धीरे जाना ही बिल्कुल बंद कर दिया। तब उन लोगों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे या तो किसी ऐसे नए मकान में जाकर रहें जो किसी चौड़ी सड़क के किनारे हो या फिर अपने कार वाले मित्रों से हमेशा के लिए कट जाएं। मेरे पैत्रिक मकान के एक पुराने मुहल्ले में स्थित होने का एक परिणाम मुझे यह भी भुगतना पड़ा कि मेरे कस्बे और मेरे समीपस्थ शहर के मेरे बहुत से कार वाले मित्रों ने मेरे यहां आना धीरे–धीरे बंद ही कर दिया। अरे यार, उसके

यहां क्या जाएं, उसके यहां तो हमारी कार ही नहीं जाती!

इस बात को कोई भी आसानी से समझ सकता है कि यदि हमारे देश में लोगों के लिए आवागमन की सुविधा को बेहतर बनाना है तो इसके लिए हमें कारों की संख्या को नियंत्रित कर हमारी सार्वजनिक परिवहन सेवा को मज़बूत करना होगा। पूरे भारत में आम आदमी के लिए सार्वजनिक परिवहन सेवा का हाल आज किसी से छिपा नहीं है ।

एक बार कार का चस्का लगा तो बस या ट्रेन से यात्रा करना परेशानी भरा लगने लगता है। कौन सामान को इधर से उधर उठाए? कौन बस या ट्रेन के टाइम-टेबल की झंझट से बंधे? अपनी कार हो तो कहीं भी किसी भी समय चल दें। कार का चस्का इतना ज़बरदस्त है कि उसकी ख़रीद के लिए आजकल लोग कोई न कोई बहाना खोज ही लेते हैं। जैसे बड़े शहरों से छोटी जगहों पर नौकरी के लिए जाने वाले लोग कार को अपनी एक बुनियादी ज़रूरत बता देते हैं। हमारे एक परिचित के लिए तो कार लेना इसीलिए आवश्यक हो गया था कि उनके पालतू कुत्ते को बस या ट्रेन से उनके साथ ले जाने में उन्हें कई तरह की परेशानियों का सामना करना होता था। हमारे देश के लगभग सभी बड़े बैंको ने अपने कर्ज़ के द्वार कार खरीदने वालों के लिए बहुत लम्बे समय से पूरी तरह खोल ही रखे हैं ।

कार किसी व्यक्ति को श्रेष्ठता, शक्ति, प्रगति और एडवेंचर का झूठा आभास कराती है, जबकि वास्तव में वह व्यक्ति पर एक तरह का बोझा और ज़िम्मेदारी लादती है।

कार का मध्यवर्गीय मालिक का अहंकार तुष्ट होता है और इस



अहंकार का शिकार होकर वह अपने आपको कार-विहीन व्यक्ति से बेहतर समझने लगता है। कार – मालिक अपनी कार को लोगों को खुश करने के एक अत्यंत शक्तिशाली साधन के रूप में देखते हैं।

मुझे यह कहने के लिए क्षमा किया जाए कि नारी-सशक्तीकरण से जुड़ी अधिकांश भारतीय महिलाएं भी आजकल कार चला कर अपने आप को जीवन के किसी उच्चतर पायदान पर पहुंच गया महसूस करती हैं।

कार के स्वामित्व से ही व्यक्ति की अर्हता में वृद्धि हो जाती है ऐसी ग़लतफ़हमी हमारे यहां बहुत से लोगों को है। एक अमीर पिता अपने बेटे-बेटियों को एक मंहगी कार दिला कर इस तरह की ग़लतफ़हमी आसानी से पाल लेता है । अपने किसी गुणहीन पुत्र या पुत्री को एक उम्दा कार दिला कर कई अमीर पिता यह मान लेते हैं कि उन्होंने अपनी संतान को सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण और सम्मानित बना दिया। इस तरह का सोच बहुत हास्यास्पद है, पर कारों के व्यापारी इस तथ्य को भलीभांति जानते हैं।

कार एक तरह का नशा है जिसकी लत एक बार लग जाने पर बहुत मुश्किल से ही छूटती है। कार हाथ में आते ही आदमी अपनी हर इच्छित जगह जाने के लिए उतावला हो जाता है। कार मालिक बनने के बाद उसे जहां भी जाना है वह कार से ही जाना चाहता है। इसके लिए उसे कितना पेट्रोल और कितना पैसा खर्च करना पड़ेगा इस बारे में वह अक्सर सोचना ही बंद कर देता है। कार का स्वामित्व किसी व्यक्ति की सामाजिक चेतना को बड़ी गहराई से प्रभावित करता है। ऐसा व्यक्ति अक्सर किसी कार वाले को ही अपनी मैत्री और संबंधों के योग्य मानता है। कार-विहीन व्यक्ति ऐसे लोगों के लिए एक नीचे दर्ज़े का इंसान होता है।

कार यात्रा का सबसे बड़ा नुकसान मैं यह मानता हूं कि इससे आप समाज के अन्य लोगों के साथ से वंचित हो जाते हैं। उनके बारे में, उनके व्यवहार के बारे में, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति के बारे में, उनकी परेशानियों के बारे में, उनके सोच के बारे में जानने के अवसर को आप अपनी कार-यात्रा की वजह से गंवा देते हैं। यह जनतंत्र की मूल भावना और उद्देश्य से ही दूर जाने जैसा है। कार खरीदने में समर्थ होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति कार नहीं रखता तो इसका कारण जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति उसकी कोई प्रतिबद्धता भी हो सकती है।

मेरी इस बात को आज की परिस्थितियों में हास्यास्पद कहा जाएगा कि किसी जनतांत्रिक देश में सामान्य आदमी के लिए कार का उपयोग प्रतिबन्धित कर दिया जाना चाहिए। भारत को एक स्वस्थ और मज़बूत जनतंत्र के रूप में विकसित करने के लिए निजी कारों के उपयोग को यथासंभव कम करवाने की कोशिश तो की ही जानी चाहिए। ❑



युवा ही बेहतर दुनिया बनाएंगे : कुमार प्रशांत

❑

जानेमाने पत्रकार और गांधीवादी विचारक कुमार प्रशांत ने जोधपुर के सुमेर शिक्षण संस्थान में 21 अक्टूबर को स्कूल के छात्रों के साथ संवाद किया।

प्रशांत जी ने अपनी बात की शुरुआत ही युवजनों से यह माफी मांगते हुए की कि हमारी पीढ़ी ने प्रकृति, समाज, लोकतंत्र सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा कि अब एक मात्र आशा युवा ऊर्जावान विद्यार्थियों से ही है। वे ही बेहतर दुनिया बनाएंगे – एक ऐसी दुनिया जिसमें सब एक दूसरे की मानवीय गरिमा का ख्याल रखने वाले, असहमति को अवसर देने वाले और लोकतान्त्रिक मूल्यों का सम्मान करने वाले होंगे।

भारत को सबसे अनूठा देश बताते हुए प्रशांत जी ने कहा कि विविधता ही हमारी सबसे बड़ी पहचान है, और वही हमारी असली ताकत भी है। उनका कहना था कि इस विविधता की रक्षा करके ही हम एक सशक्त और सुरक्षित भारत बना सकते हैं।

देश में लोकतंत्र के क्षरण पर चिंता व्यक्त करते हए उनका कहना था कि दुर्भाग्य से आज व्यवस्था में 'तंत्र' प्रमुख हो गया है और 'गण' गौण हो गया है। यह हमारे अनेक सपनों और आशाओं पर तुषारापात है। लोक के सक्रिय होने से ही लोकतंत्र समृद्ध बन सकता है।

प्रशांत जी ने युवाओं को संदेश दिया कि डरो मत और चुप मत बैठो। निर्भयता से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। कायरता हमें कभी आगे नहीं बढ़ा सकती। इसी प्रकार चुप्पी ओढ़ कर भी हम देश का भला नहीं कर सकते। संवेदनशीलता, जागरूकता और सद्भाव ही आज गांधीजन होने की सबसे बड़ी कसौटी है।

उन्होंने आह्वान किया कि जाति, धर्म, भाषा और प्रांत की दूरियों को भूल कर और तोड़ कर ही हम सच्चे भारतीय बन सकते हैं। भारतीय होने के अलावा हमारी कोई पहचान नहीं हो सकती। एक देश, एक नागरिक का भाव ही हमें बड़े सोच का मालिक बनाएगा और इसी से भारत बनेगा और बचेगा। प्रारंभ में संस्थान प्रबंध समिति के सचिव जसवंत सिंह कछवाहा ने प्रशांत जी के जीवन और व्यक्तित्व से जुड़े अनेक पहलुओं से विद्यार्थियों को अवगत कराया और कहा कि वे गांधी विचार को जिस हार्दिकता से समझाते और अभिव्यक्त करते हैं वो सीधे दिल में उतर जाता है। प्रशांतजी की सीधी सरल भाषा और जीवन शैली हमें प्रेरित करती है।

–डॉ. निधि परिहार, प्राचार्य सुमेर महिला महाविद्यालय



स्मृतियों में सिने संगीत

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में प्रतिमाह होने वाली 'सुसंगत' में हमने सितंबर में 'स्मृतियों में सिनेमा' की बात की थी। उसी को आगे बढ़ाते हुए इस बार अक्टूबर में हमने 'स्मृतियों में 'सिने-संगीत' पर विमर्श किया।

स्मृतियों में सिनेमा इसलिए है क्योंकि उसमें सिने-संगीत है। अधिकतर फिल्में नष्ट हो गईं। जिन्होंने फिल्में नहीं देखी उन्होंने भी गानों का आनंद लिया। लोगों ने गाने सिनेमा के पर्दे पर तो देखे और सुने ही, उन्हें सिनेमाघरों से बाहर ध्वनि मुद्रिकाओं पर तथा रेडियो पर भी सुना।

गाने फिल्मों के रिलीज़ होने से पहले जारी हो जाते थे जो एक प्रकार से फिल्मों का अग्रिम प्रचार भी होता था। ऐसा भी हुआ कि गाने चल निकले लेकिन कोई ऐसा दुर्योग बना कि वह फिल्म ही रिलीज़ नहीं हुई। गानों ने फिल्मों को स्मृतियों में बचा लिया।

मनुष्य की उम्र होती है उसी प्रकार स्मृतियों की भी उम्र होती है। अनेक मनुष्य उम्र पूरी हो जाने के बाद भी आपके कामों और रचनाओं में जीवित रहते हैं। वे अमर कहलाते हैं। उसी प्रकार अनेक स्मृतियां अपनी उम्र के पार भी बनी रहती हैं। वे कालजयी हो जाती हैं। यही सिने संगीत के साथ भी है।

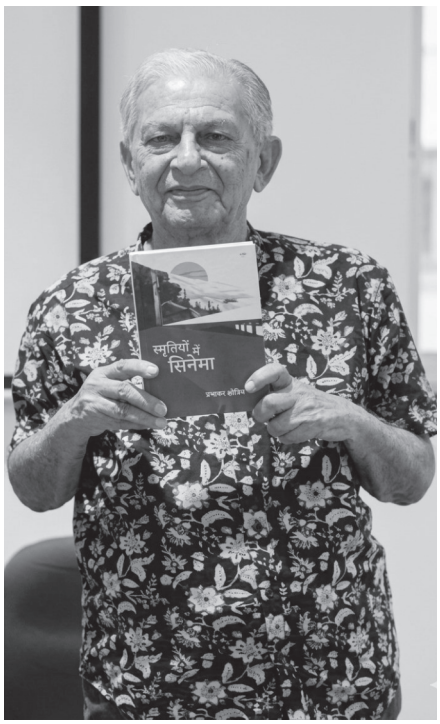
78 आरपीएम के लाख के बने रिकॉर्ड और उनके बाद आए विनायल के रिकॉर्ड ईपी (एक्स्टेंडेड प्ले) और एलपी (लॉन्ग प्ले) जो 45 आरपीएम और 33 1/3 आरपीएम पर चलते थे, का प्रदर्शन करते हुए उनकी यादों में पहुंचा गया और समझा गया कि क्यों



हिंदुस्तानी फिल्मों के गाने करीब तीन मिनट के और तीन अंतरों वाले ही हुए। उनसे भी पहले की तकनीक सिलिन्डर रेकॉर्ड्स की जानकारी भी साझा की गई/ ❑

स्मृतिशेष

वरिष्ठ कवि ऋतुराज नहीं रहे



जनपक्षधर संवेदना और आधुनिक हिंदी कविता का विशिष्ट स्वर माने जाने वाले कवि ऋतुराज का 26 अक्टूबर का जयपुर में निधन हो गया।

राजस्थान साहित्य अकादमी के सर्वोच्च मीरा पुरस्कार तथा राष्ट्रीय स्तर का बिहारी पुरस्कार जैसे अनेक साहित्यिक अलंकर्ण प्राप्त वाम विचारधारा वाले ऋतुराज का जन्म राजस्थान के भरतपुर में 10 फ़रवरी 1940 को हुआ था। उन्होंने लगभग चालीस वर्षों तक अंग्रेजी साहित्य पढ़ाया। उन्होंने चाइना रेडियो इंटरनेशनल में बतौर भाषा-विशेषज्ञ भी काम किया। राजस्थान में प्रगतिशील आंदोलन के वे स्तम्भ रहे। 'मैं आंगिरस', 'एक मरणधर्मा और अन्य', 'कितना थोडा वक़्त', 'पुल पर पानी', 'अबेकस', 'नहीं प्रबोधचंद्रोदय', 'सुरत निरत', 'लीला मुखारविंद', 'आशा नाम नदी', 'स्त्रीवग्ग' उनके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं। इसके अलावा उनकी चुनी हुई कविताओं का प्रकाशन 'कवि ने कहा' सीरीज़ में भी हुआ है।

उनकी कविताएं राजस्थान में स्कूल-कॉलेज पाठ्यक्रमों का हिस्सा रही हैं। उनकी कविताओं के अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए। ऋतुराज स्वयं को एक सैलानी कवि कहते थे।❑

दिलीप शर्मा की सेवानिवृत्ति : आत्मीय आयोजन

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति के सबसे पुराने रह गये साथी दिलीप शर्मा को उनकी सेवनिवृत्ति पर अत्यंत ही आत्मीय माहौल में विदाई दी गई। इस अवसर पर समिति के सदस्यों के अलावा उनके परिवार के लोग भी शामिल हुए।

इस भावुक माहौल में दिलीप जी ने 39 वर्ष की समिति में दी अपनी सेवाओं के दौरान के अपने साथियों को याद किया। समिति के कुछ पुराने साथी भी इस समारोह में मौजूद थे।



समिति के सचिव हिमांशु व्यास ने उन्हें साफा बांधा और समिति कीं तरफ से उपहार दिए। समिति के सदस्य वन सेवा के पूर्व अधिकारी देवेन्द्र भारद्वाज साहब ने दिलीप जी को एक सुंदर पौधा तोहफे में दिया।❑

RS-CIT
एक परिपूर्ण कंप्यूटर कोर्स !

RS-CIT एक विस्तृत बेसिक कंप्यूटर कोर्स है जिसकी मदद से कंप्यूटर के आवश्य कौशल सीख कर कंप्यूटर पर कार्य करने में दक्षता हासिल की जा सकती है एवं विभिन्न डिजिटल सुविधाओं के उपयोग के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है

RS-CIT कंप्यूटर कोर्स ही क्यों ?

ई-लर्निंग पर आधारित, ऑडियो-विडियो कंटेंट तथा चरणबद्ध असेसमेंट
राज्य सरकार की विभिन्न सरकारी नौकरियों में एक पात्रता ।
शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 6500 ज्ञान केंद्र ।
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा द्वारा परीक्षा एवं प्रमाण पत्र ।

अन्य कोर्सेज

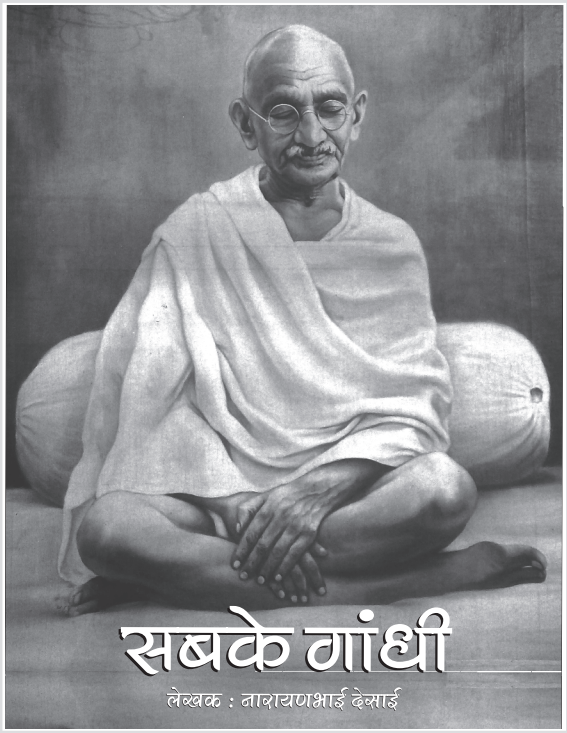
- Financial Accounting
- Spoken English & Personality Development
- Desktop Publishing
- Digital Marketing
- Advanced Excel
- Cyber Security
- Business Correspondence

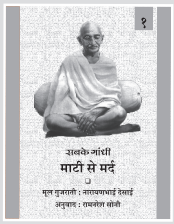
Rajasthan Knowledge Corporation Limited
IT shapes future
(A Public Limited Company Promoted by Govt. of Rajasthan)

नजदीकी ज्ञान केंद्र के लिए www.rkcl.in पर विजिट करें
या 9571237334 पर WhatsApp करें

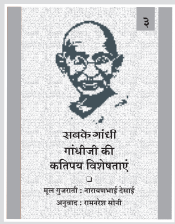
स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा क्लासीफाइड प्रिण्टर्स, जयपुर में मुद्रित तथा 7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-302004 से प्रकाशित। संपादक- राजेन्द्र बोड़ा

अनौपचारिका : पृष्ठ-28, नवम्बर, 2026 रजिस्ट्रार ऑव न्यूज पेपर, नयी दिल्ली के द्वारा पंजीकृत मासिक पत्रिका **RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x**

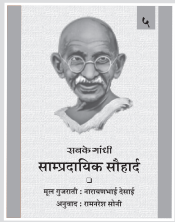


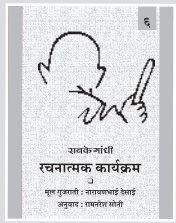


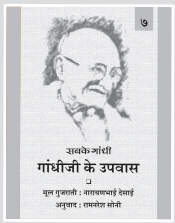


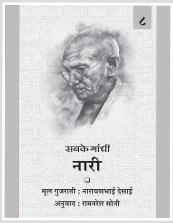


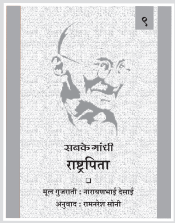


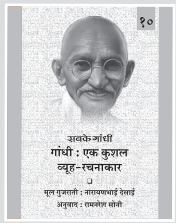


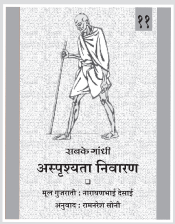


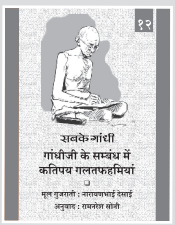














सहयोग राशि के लिए
बैंक विवरण

BANK OF BARODA
Rajasthan Adult Education Association
Branch Name : IDS Ext.
Jhalana Jaipur
I.F.S.C. Code : BARB0EXTNEH
(Fifth Character is zero)
Micr Code : 302012030
Acct.No. : 98150100002077

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

सबके गांधी

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004

12 पुस्तकों के एक सैट की सहयोग राशि रुपये 500/– मात्र डाक खर्च रुपये 75/– अलग से देय होगा।